नैन बहे दिन-रैन

नैन बहे दिन-रैन

एक भावुक राजकुमार की आत्मकथा

एक कोमल राजकुमारी की जीवन व्यथा

श्री प्रियदर्शन

[पू० पंन्यास प्रवर श्री भद्रगुप्त विजयजी गणीवर]

हिन्दी भावानुवाद :
स्नेहदीप

●

प्रकाशक :
विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, कम्बोईनगर के समीप,
मोजापीर रोड़, मेहसाना–३८४ ००२ [गुजरात]

●

प्रथम संस्करण/जनवरी/१९८३

●

मूल्य : ८.०० रु०

●

मुद्रक :
अजन्ता प्रिन्टर्स
जयपुर

हमें भी कुछ कहना है ?

[प्रकाशकीय]

हमें अतीव प्रसन्नता हो रही है हमारे हिन्दी भाषी पाठकों के करकमलों में संस्था का नया प्रकाशन रखते हुए।

एक भावुक राजकुमार व मासूम राजकुमारी की ऐसी दर्दनाक कहानी जो आंसूओं से छलकती है....वो आपके समक्ष प्रस्तुत है 'नैन बहे दिन-रैन' के रूप में। शायद ऋषिदत्ता के नैन हमेशा बहे ही होंगे।

यह पूरी कहानी गुजराती पुस्तक 'पांपणे बांध्यु पाणियारू'' के रूप में मूल रूप से लिखी गयी थी। इसका रूचिपूर्ण-रसपूर्ण भावानुवाद जोधपुर से निकलने वाले हमारे सहयोगी मासिक पत्र **'अरिहंत'** में करीब ३/४ साल पूर्व छप चुका है। आज वो ही कहानी पुस्तक रूप में आप तक हम पहूँचा पाये हैं। हम 'अरिहंत' पत्र के संपादक व व्यवस्थापक के ऋणी हैं।

इस पुस्तक के मुद्रण कार्य की व्यवस्था का पूरा भार हमारे ट्रस्ट के माननीय ट्रस्टी **श्री हीराचन्द जी बैद** [जयपुर] ने पूरी निष्ठा व लगन से सम्भाला, जिससे निर्धारित समय में पुस्तक तैयार हो सकी हम उनके आभारी हैं। आभारी रहेंगे।

इसके अलावा भी एक और किताब **'अन्तरनाद'** जिसमें पूज्य गुरुदेव श्री का चिंतन संकलित है, उसका प्रकाशन सम्बन्धित संस्करण के

रूप में इसके साथ ही हो रहा है। हमारी इच्छा है कि पूज्य गुरुदेव श्री के पूर्वप्रकाशित व अप्रगट तमाम हिन्दी साहित्य को परिष्कृत करके नयी साज-सज्जा के साथ हम प्रस्तुत करें। हालांकि समय तो लगेगा ही पर हमारे ध्येय की ओर हम अवश्य गतिशील रहेंगे। आपका हार्दिक सहयोग सदैव अपेक्षित है इस ज्ञान यात्रा के सुदीर्घ सफर में।

इस किताब के लिये आपके खुले प्रतिभावों की हमें बड़ी इन्तेजारी के साथ प्रतीक्षा रहेगी।

मेहसाना
१५-१२-८२

जयकुमार बी. परीख
कार्यकारी ट्रस्टी : वि. क. प्र. ट्रस्ट

कहानी—आँसूओं की जुबानी!

कहानी-किस्सा यह जन जन में व्याप्त....आज ही नहीं अपितु युग युग से चिर परिचित उपदेश देने का प्रमुख माध्यम रहा है। जो कुछ कहना है .. जिस बात की विस्तृत विवेचना करनी है, उसमें कहानी, किस्सा बड़ी अहमियत रखते हैं। महान जैनाचार्य से लेकर सामान्य उपदेशक मुनि भी अपने उपदेश को कथा के द्वारा और भी ज्यादा प्रभावी ढंग से जनसमाज के अंतःकरण तक पहुँचाने में सक्षम हुए हैं। स्वयं प्रभु महावीर स्वामी के उपदेशों के इर्दगिर्द भी सैंकड़ों वार्ताओं का गूंफन अपन को जानने। देखने को मिलता है। कहानी। वार्ता। किस्सा यह उपदेशक—व्याख्याता—विवेचक के लिये पसंदीदा माध्यम है। अलग-अलग व्यक्तित्व एवं अलग अलग घटनाओं से भरी-पूरी ढेरों कहानियाँ हमें उपलब्ध हैं। एक अन्दाज के मुताबिक जितना कथा साहित्य जैन परम्परा में संग्रहित है....उतना शायद अन्य किसी धर्म या दर्शन की परम्परा में नहीं! चूं कि उपदेश दान—प्रवचन—व्याख्यान यह जैन श्रमण के लिये महत्वपूर्ण जिम्मेवारी है। समाज के भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों को उनकी योग्यता— उनकी कक्षा के मुताबिक धर्म देना। उन्हें सुख-शांति—प्रसन्न जीवन की पगडंडी दिखाना ही तो उन उपदेशों का मूल लक्ष्य रहता है। जीवन में सुख-समृद्धि के फूल खिले, इसके लिये सद्गुणों के अंकुर आत्मा की धरती पर उगने जरूरी हैं। और उन सद्गुणों की विशेषता—व्यापकता बताने के लिये अलग-अलग पात्रों की जीवन-कथा काफी उपयोगी होती है। ऐसे अगिनत पात्रों को शब्दों से शृंगारित

करने का व अक्षरों से अलंकृत करने का प्रयास जैन कवियों ने। महा-कवियों ने युग युग से किया हैं। वे करते रहे हैं।

संस्कृत-प्राकृत या अन्य भाषाओं की बात को गौण करके सोचें तो भी गुजराती-मध्यकालीन गुजराती भाषा में जैन कवि, उसमें भी जैन मुनि-कवियों ने जो योगदान दिया है वह यदि नजर-अंदाज किया जाय तो शायद गुजराती साहित्य प्राणविहीन व धुंधला सा हो जाय! तकरीबन १२ वीं सदी से लेकर आज तक सैंकड़ों जैन मुनियों ने काव्य....रास... बारहमासा, फागुकाव्य, ढाले....गीतिकाएं...नृत्य-नाटिकाएं इन सब के द्वारा गुजराती साहित्य को समृद्ध करने का अथक प्रयत्न किया है।

प्राचीनतम गुजराती रास भी एक जैन मुनि की सर्जन शक्ति का ही परिणाम है [भरतेश्वर बाहुबली रास: कर्ता. आ. श्री शालिभद्र सूरिजी, समय: वि. सं. १२४१]

प्रस्तुत कहानी की नायिका ऋषिदत्ता भी वैसा ही एक पौराणिक पात्र है। इस ऋषिदत्ता के इर्द गिर्द अभी तक २८ जितनी कृतियां रास, कहानी या अन्य रूप में रची जा चुकी हैं। प्राचीनतम कृति १६५६ वि. संवत में लिखी गई है। जो कि खंभात शहर में लालविजय जी नामक मुनिवर ने लिखी थी। वह हस्तलिखित प्रत आज भी बम्बई के गोडीजी उपाश्रय के ज्ञान भण्डार में उपलब्ध है। इसके पश्चात् तो ढेर सारी कृतियां लिखी गयी। वि. सं, १६४३ में हुए महाकवि जयवंत सूरिजी ने भी एक अद्भुत रास में इस ऋषिदत्ता की कहानी को गूँफित किया है। ४१ ढाल [खंड] में वर्णित यह रास गुजराती साहित्य-सागर का एक अनमोल मोती है।

अलबत्ता, अलग-अलग कथानकों में मिलती ऋषिदत्ता के जीवन सफर की घटनाओं में कभी कभार भिन्नता भी नजर आती है। वर्णन में विभिन्नता होना सहज है फिर भी ऋषिदत्ता सभी रचनाकारों के लिये प्रेम की एक आदर्श प्रतिमा जैसी स्त्री थी। प्रेम कैसा हो सकता है ? वह जानने-समझने के लिये ऋषिदत्ता से पात्र बहुत कम मिलते हैं। एक तरफ स्त्री चरित्र के पुराने खयालातों की वकालात प्रस्तुत करती हुई रुक्मिणी है तो दूसरी ओर ऋषिदत्ता नारी का मासूम....शाश्वत् स्नेह का भाव पैदा करती नजर आती है। मुझे लगता है कि रुक्मिणी के पात्र को जरूरत से ज्यादा विकृत बनाया गया हो चूंकि शादी के बाद के समय में (ऋषिदत्ता के मिलन के पश्चात्) कनकरथ के साथ का उसका व्यवहार एक समझदार। आदर्श गृहिणी का ही है पर कुछ अरसे के लिये रुक्मिणी को खलनायिका का रूप दिया गया हो वह सहज है। इसके बिना तो ऋषिदत्ता का बहुमुखी व्यक्तित्व निखर ही नहीं पाता न कहानी में।

गुजराती भाषा में तो इससे पहले भी एक या दो दीर्घकथाएं ऋषिदत्ता को लेकर लिखी गयी हैं। हिन्दी भाषा में भी शायद कहानी लिखी गयी होगी पर प्रस्तुत पुस्तक में उभरती 'ऋषि' अद्‌भुत है.... अजीब है....और उमदा भी। पुस्तक का नाम भी सार्थक है। ऋषि की जीवन घटनाएं देखते हुए उसे हम दर्द का दरिया कह सकते हैं। ऋषि की आंखे हमेशा आसूओं का सैलाब लिये बह रही होगी....पाठक भी आंखों को गीली हुए रोक नहीं सकता।

अभी तक के लिखे गये कथानकों में एक ऋषिदत्ता ही छायी हुई रहती है कहानी पर। जबकि इस पुस्तक की रचना अलग ढंग की

है। उसमें ऋषि के साथ साथ राजकुमार कनकरथ को भी पूरा मौका दिया गया है छाने के लिये और कहानी की शुरुआत ही जैसे की कनकरथ अपने ही मुँह से अपनी कहानी....अपनी जिन्दगी की दास्तान सुना रहा हो....अपने आप की मुलाकात करा रहा हो, वैसा महसूस होता है।

इतना होते हुए भी ऋषिदत्ता के व्यक्तित्व को तनिक भी धक्का नहीं लगा है। करीब करीब तो दूसरे ही प्रकरण से वो पाठक के दिलोदिमाग पर छाने लगी है। कभी कभी तो ऋषि का व्यक्तित्व कनकरथ के व्यक्तित्वसे भी ज्यादा विस्तृत एवं उन्नत सा प्रतीत होता है। विशेष तौर से उसके दुःख के दिन जब बीतत नाही के अरसे में! राजकुमारजिन्दगी सेनिराश होकर मौत से लिपटने को छटपटाता है, जबकि 'ऋषि' उतनी ही स्वस्थता सहजता से परिस्थिति को स्वीकार कर लेती है। उसे मौत का विचार तक नहीं सताता! यही तो उसके व्यक्तित्व का विजय है कनकरथ के व्यक्तित्व पर।

यह कहानी पढते हुए। पढकर भी यदि तुम्हारी आंखे गीली न हो....एक गहरी उदासी तुम्हारे भीतर तक फैल न जाय तो मैं कहूंगा प्यार ...भावुकता....स्नेह....अपनत्व यह सारे शब्द तुम्हारे लिये शब्द-कोश तक सीमित हैं....। खुद तुम प्यार का अपनापा नहीं पा सकते! फिर जिन्दगी खुशियों का त्योंहार नही बनेगी।

—स्नेहदीप

-कृतज्ञता-

"नैन बहे दिन-रैन" के हिन्दी भाषा में प्रकाशन से विश्व कल्याण प्रकाशन का बन्द अध्याय पुनः खुल गया है। १५ वर्ष पूर्व पन्यास प्रवर के जयपुर चातुर्मास में हिन्दी भाषा में प्रकाशन की योजना बनी और पांच वर्ष में पन्यास प्रवर की लेखनी से समृद्ध बनी २० पुस्तकें पाठकों को प्राप्त हुई। पुनः काफी लम्बी प्रतिक्षा के बाद उनकी ओजपूर्ण वाणी से प्रवाहित सुबोध, सरस, सरल और सुरुचीपूर्ण साहित्य का संकलन कर विश्व कल्याण प्रकाशन हिन्दी भाषा-भाषियों को प्रदान कर रहा है उसके लिये पाठक प्रतिकृतज्ञ रहेंगे।

हमें पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी प्रकाशन की यह धारा निरंतर गतिमान होती रहेगी।

इस पुस्तक के मुद्रण का दायित्व मुझ जैसे अल्पज्ञ पर डालना पूज्य गुरुवर्य की अनूठी कृपा ही है। इस कृपा के लिये प्रति कृतज्ञ हूं।

जयपुर —हीराचंद बैद

१.

आप मुझसे मिलना चाहते हैं ?

आप मेरे बारे में जानकारी पाना चाहते हैं ?

मेरी जीवन घटनाओं की गलियो में आप घूमना चाहते हैं ? और वो भी मेरे साथ ! मेरे अपने मुँह से ही आप मेरी कहानी सुनना चाहते हैं ! बहुत मुश्किल है अपने ही शब्दो में अपना व्यक्तित्व बांधना ! और फिर खुली किताब के पृष्ठों की भांति अपनी जिन्दगी को किसी और के सामने रखना कितना मुश्किल है ? पर गैरों के सामने अपने आपको बिना किसी मुखौटे के सही रूप में प्रस्तुत करना कठिन हो सकता है, अपनों के सामने नहीं। और मेरे लिये तो आप सब मेरे अपने हो....कोई गैर नहीं ! कोई पराया नही ! कुछ ऐसा ही बीता मेरे साथ, कि अपने परायों के बीच की रेखा धुंधली बनती चली। नहीं समझ पाता अपने परायों में समा गये या फिर पराये अपने में छिप बैठे ! और, जो भी हो....। आप जब सुनने ही आये हैं मेरी जिन्दगी के गीत को.... तो जरूर सुनाऊंगा। वैसे भी मेरा जीवन बचपन से एक खुली हुई किताब सा रहा है। जिसके भी आये को पढ़ ले। मेरी हर एक बात....

मैं किसी से कुछ छिपाना नहीं चाहता। हाँ, तो मैं आपसे मेरी बात करने आ रहा था।

मैं एक भावनाशील युवान हूं। मेरे लिये लोगों के होठों पर से 'कनकरथ' नाम सरकता है। यानी कि मेरा नाम कनकरथ है। किसने दिया यह नाम? मुझे कोई विशेष जानकारी नहीं है। रथमर्दन नगर का मैं एक लोकप्रिय राजकुमार हूं। पिता का नाम है राजा हेमरथ और माता का नाम है रानी सुयशा।

पिता मुझे अपनी आंखों का तारा मानते हैं। मां का प्यार तो असीम है। माता पिता का मैं एक मात्र पुत्र हूं। मेरे न तो अन्य कोई भाई है या बहन है। तो सहज है कि सभी का मैं लाडला होऊं! मेरी माँ ने काफी प्यार-दुलार के साथ मुझे बड़ा किया। मैंने मा को कई बार दूसरों के मुंह कहते सुना है कि 'यह कनकरथ जब मेरे उदर में आया, तब मैंने स्वप्न में उगते सूर्य को देखा था... उसके बाद तो मुझे हमेशा अच्छे अच्छे ही सपने आते हैं।' यह बात दूसरो को कहते हुए मां तो खुश होती ही थी, पर मेरे हृदय में गुदगुदी पैदा हो जाती! एक दिन माँ ने मुझे कहा था: 'बेटा, मैंने तेरे को मेरे शरीर का दूध पिलाया है. मैंने किसी धायमाता का दूध नहीं दिया है, मेरे दूध को कभी लजाना मत!' यह सुनकर मैं माँ की गोद में दुबक जाता। मेरे भीतर मां के प्रति प्यार का पारावार उछलता। मुझे मां के प्रति बहुत स्नेह था, आज भी है।

जब से मुझे मेरे बचपन की स्मृति है, हर एक प्रसंग में, हर एक घटना में मेरी मां ने मेरा कैसा संस्कारी सृजन किया था, मुझे बराबर याद है। उसने मेरे खातिर कितने सुख-भोगों का त्याग कर दिया था!

प्रतिक्षण....हरपल वो मेरा कितना ध्यान रखती थी। मेरे भीतर कहीं कोई कुसंस्कार या गलत बात का बीज नहीं पड़ जाय, इसके लिये वो कितनी सतर्क थी !

कई बार पिताजी माँ पर गुस्सा करते, चिढ़ जाते, फिर भी माँ प्रसन्नमन से सब कुछ सहन करती। पिताजी को भी मेरे पर असीम स्नेह था। जब भी वो मां के पास आते और मुझे देखते तो तुरन्त उठाकर सीने से लगा लेते और प्यार से सहलाते ! पर ज्यों ज्यों मेरा बचपन बीतता गया और उम्र का रंग चढ़ता गया त्यों त्यों पिताजी से मैं दूर होने लगा। वो मेरे साथ कम बोलते थे....हँसना भी कम हो गया था हमारे बीच। अलबत्ता, उन्हों ने मेरी शिक्षा-दीक्षा के लिये बड़ी सतर्कता बरती। मुझे राजनीति, समाजशास्त्र एवं शस्त्रविद्या के साथ साथ धर्म की शिक्षा भी दी गयी। इसके लिये तो अच्छे से अच्छे अध्यापक भी नियुक्त किये गये थे। अध्यापक भी कितने प्यारे और भले थे ! पिताजी भी उनका आदर करते थे। माँ तो उन्हें 'गुरुजी' कहकर ही पुकारती थी। 'गुरुजी' ने मुझे प्रथम पाठ जो सिखलाया वो कितना मार्मिक था ! 'मातृ-देवो भव !'

मुझे मित्र भी बड़े अच्छे मिले थे। महामंत्री का लड़का, नगर सेठ का पुत्र, सेनापति का लड़का और राजपुरोहित का पुत्र ! हमारे पाँचों के बीच गहरी मित्रता थी। माता मेरे मित्रों को बड़े प्यार से अपने पास बुलाती। हम पाँचों को कई बार वो अपने पास बिठाकर अच्छी-अच्छी कहानियाँ सुनाती। आज भी मेरे दिमाग में वे सारी कहानियाँ अंकित हैं। कितनी बढ़िया कहानियाँ सुनाती थी माँ ! सदाचार, त्याग और बलिदान की वे कहानियाँ हमारे भीतर [illegible] संवेदनाएं पैदा करती थीं। हमारे आदर्श उन कहानियों के आसपास ही घूमते थे।

हमारी कल्पनाओं की कालीन पर वे कहानियां एवं उसके पात्र ही छाये रहते थे।

मां तो मां ही थी! तब क्या, आज भी मैंने कभी मेरी मां को मेरे पिताजी के सामने बोलते या उनका अपमान करते हुए नहीं देखा, न ही सुना! और फिर पिताजी भी तो कितने विवेकी थे! मेरे देखते हुए उन्होंने कभी भी मां के साथ ऐसा कोई बर्ताव नहीं किया कि जिससे मेरे दिमाग में कुछ अजीब सा लगे।

ये सारी बातें मैं यूं ही नहीं करता, बहुत अर्थ रखती हैं ये बातें। मेरे समग्र जीवन पर इन बातों का गहरा असर अंकित है। मेरे व्यक्तित्व के निर्माण में इन बातों ने काफी स्थान रखा है। मेरी जिन्दगी की राह पर आयी धूप-छांव में इन बातों ने मेरा पूरी ईमानदारी के साथ साथ निभाया और जब मैं तुम्हारे सामने मेरी जिन्दगी की किताब को खोल ही बैठा हूं तो फिर मुझे कह लेने दो सारी बातें!

पिताजी की तरफ मैं ज्यादा मर्यादा रखता रहा। हां, मुझे उनका कोई डर नहीं लगता था, पर न जाने क्यों उनसे खुलकर बातें करने में मुझे हिचकिचाहट होती थी। उनसे सवाल-जवाब करने में मैं झिझकता था, आज भी नहीं कर पाता। उनके प्रति मेरे दिल में स्नेह एवं आदर हमेशा ज्यों का त्यों बना रहता था, पर एक ऐसी घटना बन गयी मेरी जिन्दगी में ...मेरे दिल में पिताजी के लिये स्नेह में कमी आ गइ....। मेरा मन उनसे सख्त नाराज हो गया। आज भी नहीं भूल पाता उस दर्दभरी घटना को। रह रह कर कसक सी उठती है दिल में? दिल करता है ...बगावत कर दूं! मेरे सपनों की दुनियां को आग लगाने वालों का पर्दाफाश कर दूं। पर एक मर्यादा की रेखा अलांघने की हिम्मत नहीं होती।

और पिताजी ने जो कुछ किया था उनके सिवाय उनका चारा ही न था, वो राजा भी तो थे ना ? कोई मेरे पिता ही तो न थे ! शायद पिता ही होते तो भावनाओं के प्रवाह में बह जाते ! पर वे तो एक निष्ठावान राजा भी थे । प्रजा के लिये भी उनके कुछ कर्तव्य थे और फ़िर न्याय तो हमेंशा अन्धा ही होता है । प्रेम और कर्तव्य, करुणा और न्याय हमेंशा आत्यंतिक छोर पर रहे हैं ।

एक राजकुमार को जितना सुन्दर शिक्षण मिलना चाहिए था, मुझे मिला था । मैं युद्धकला में भी निपुण बना । अच्छे-अच्छे युद्धकला के विशारदों को मात करके मैंने अपनी निपुणता कई बार सिद्ध की । राजनीति के रहस्यों की समूची जानकारी के बल पर मैंने अपनी युवराजपद की योग्यता को सिद्ध कर बतायी थी । राजधानी में ही नहीं, परन्तु पूरे राज्य में प्रसंशा के फूल बरसते थे मेरी राहो में । मेरे आदर्शों की दुनिया थी विशाल साम्राज्य ! प्रजा का सुख ! प्रजा की समृद्धि ! शत्रुओं का दमन एवं सदाचार का प्रवर्तन ! अलबत्ता, पिताजी एक प्रजावत्सल एवं न्यायनिष्ठ राजा के रूप में सुविख्यात थे । उनके शासन के दौरान प्रजा ने काफी सुखसमृद्धि पायी थी । मेरे व्यक्तित्व के विकास में पिताजी एवं उनकी कार्यपद्धति का पूरा योगदान रहा था ।

मैं ऐसा तो नहीं कह सकता कि मैं धार्मिक प्रवृत्ति का राजकुमार था । हाँ मेरी वृत्तियां धार्मिकता के अंचल में पली जरुर थी । मुझे परमात्म-तत्व पर गहरी आस्था थी । ऋषि मुनि और महात्माओं के प्रति मेरे दिले में काफ़ी आदर था । दान-शील-सदाचार, परमार्थ....ये सब मुझे बहुत प्रिय थे परन्तु सबसे ज्यादा मेरी आस्था थी मानवीय करुणा में । मुझे उन दिलो से गहरे अर्थ में समवेदना रहती थी कि जिनके दिल पर समय की कठोरता ने कई जख्म लगाये थे । उन जख्मों

को प्यार से सहलाना मुझे बहुत आनन्द देता था। पर धर्म के नाम पर होती हिंसा से मुझे सख्त नफरत थी। अपने पापों को धोने के लिये दूसरों का रक्त बहाना मेरे लिये असह्य था। धर्म के मुखौटे में अपनी आकांक्षाओं को छिपाकर अधर्म को अपनाना मुझे कभी कबूल नहीं रहा। पिताजी को सर्वज्ञभाषित अहिंसाप्रधान धर्म बहुत पसन्द था। माँ तो वीतराग परमात्मा की ही आराधिका थी। हमारे नगर और सारे राज्य में सैकड़ों जिन-प्रासाद थे। अनेक शैव मन्दिर और अन्य धर्म स्थान भी थे। प्रजाजन अपनी इच्छानुसार धर्माराधना कर सकते थे।

पिताजी की राजसभा में जब भी विद्वानों की गोष्ठियाँ होती तो मैं अवश्य उनमें भाग लेता। चूंकि ऐसी गोष्ठियों में मुझे बचपन से ही रस रहा। तत्त्वचर्चा और तर्कों के जाल की उधेड़बुन सुनने में मुझे काफी आनन्द आता। पिताजी विद्वानों का आदर करते थे। बड़ी-बड़ी भेंट उन्हें प्रदान करते थे। इससे दूसरे राज्यों में भी पिताजी विद्वज्जनों की अच्छी कद्रदानी करते हैं, ऐसी ख्याति फैली थी।

एक दिन राजसभा में विद्वानों की गोष्ठि का रंग जम रहा था कि द्वारपाल ने आकर सिंहासन पर बैठे महाराजा को झुक कर अभिवादन किया। गोष्ठि में भंग पड़ा। पिताजी के सिंहासन के पास ही मेरा सिंहासन था। मुझे जरा विचित्र सा लगा। द्वाररक्षक ने निवेदन करते हुए कहा:

'महाराजा, कावेरी नगर से राजदूत आये हुए हैं और आपसे भेंट करना चाहते हैं।'

'उन्हें सम्मानपूर्वक यहाँ लाया जाय।' पिताजी ने द्वारपाल को अनुज्ञा दी। द्वारपाल नमन करके पिछले पैरों लौटा और पलक झपकते ही एक सुन्दर एवं तेजस्वी पुरुष को साथ लेकर आया। मैं समझ गया कि यही तेजस्वी व्यक्ति राजदूत होगा। आगंतुक व्यक्ति ने पिताजी का अभिवादन किया और अपने आने का प्रयोजन बतलाने लगा।

'महाराजा, मैं कावेरीपति महाराजा सुरसुन्दर का एक महत्वपूर्ण संदेश लेकर आपके समक्ष उपस्थित हुआ हूँ।'

पिताजी ने प्रसन्नता बिखेरते हुए पूछा :

'मेरे परम आत्मीय महाराजा सुरसुन्दर कुशल तो हैं न ?' कावेरी के साथ हमारे राजनैतिक सम्बन्ध काफी सुदृढ़ थे।

'महाराजा! हमारे राजा एवं समग्र कावेरी की प्रजा खूब प्रसन्न है, महाराजा सुरसुन्दर ने एक विशेष कार्य से मुझे आपके पास भेजा है, यदि आप उचित समझें तो मैं मेरा निवेदन करूं'। राजदूत की मीठी बोली .. ने सारी राजसभा को मन्त्रमुग्ध बना दिया।

'कहो।'

'कृपावंत, हमारे महाराजा की एक ही राजकुमारी है। महारानी वासुला नें काफी प्यार दुलार के साथ उसे बड़ी की है। राजकुमारी अपने माता पिता की लाडली है। काफी सुशील एवं विदुषी राजकुमारी रुक्मिणी के प्रति रानी वासुला की अपार ममता है परन्तु बेटी तो आखिर पराया धन ही है। रुक्मिणी की उम्र के आंगन में यौवन अठखेलियाँ करने लगा और महाराजा ने उसके लिये योग्य वर की तलाश करवाना प्रारम्भ किया, ताकि योग्य जीवन

साथी के साथ उसके जीवन को जोड दिया जाय। देश-विदेश से अनेक राजकुमारों के चित्र एवं परिचय प्राप्त करने के बावजूद भी राजा-रानी के मन को कोई राजकुमार भाया नहीं। रानी तो काफी परेशान हो गयी। एक दिन बात ही बात में किसी ने आपके राजकुमार का नाम दिया और महाराजा सुरसुन्दर बोल उठे !

'अरे ! कितनी अजीब बात है....गोद में बच्चा और सारे गाँव को छान मारा !' भई, राजा हेमरथ तो मेरे आत्मीय हैं, उनका राजकुमार कनकरथ हर तरह से योग्य है, अपनी रुक्मणी के लिये। अब और कही तलाशने की आवश्यकता नही है ! मैंने राजकुमार को देखा भी है।' महारानी वासुला भी बड़ी प्रसन्न हुई यह सुनकर और उन्होंने सहमती दे दी। राजकुमारी ने तो बोल दिया 'माँ और पिताजी जो भी करेंगे वो मेरे लिये योग्य ही होगा।' महाराजा ने मुझे शीघ्र आपके पास इसलिए ही भेजा है। आप महाराज कुमार कनकरथ के के लिये राजकुमारी रुक्मिणी को स्वीकार करें !'

राजदूत की आखें बारबार मेरे चेहरे के भावो को परखने का प्रयत्न कर रही थी। जैसे ही राजदूत ने अपना वक्तव्य पूरा किया, पिताजी ने मेरी और देखा . मै शरमा गया। मेरी आंखें झुक गयी.... पिताजी ने दूत से कहा :

'तुम आज राज्य के अतिथिगृह में विश्राम करो....कल तुम्हारी बात पर निर्णय तुम्हे मिल जायेगा।' पिताजी ने दूत को बिदा कर दिया। सभा का विसर्जन किया। हम महल में आ गये। पिताजी ने मेरे साथ जरा भी बात नहीं की ! पर एक वेधक दृष्टि जरूर मुझ पर

डाली। मैं समझ गया कि पिताजी माँ के साथ इस विषय में विचार-विमर्श करेंगे और निर्णय लेंगे। मेरा मन बोल उठा: 'मेरे लिये पिताजी एवं माँ जो भी निर्णय करेंगे वो योग्य ही होगा। मैं सहर्ष उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर लूंगा।' सदैव मेरे सुख के लिये सोचते माता-पिता के लिए अविश्वास का प्रश्न ही नहीं उठता! हालाँकि इस घटना से पूर्व मैंने कभी भी शादी के बारे में सोचा ही नहीं था! तुम्हें अजीब सा लगेगा 'युवान व्यक्ति को शादी का विचार न आये ऐसा हो कैसे सकता है!' पर हाँ, मेरे जीवन में ऐसा बन चुका है। इतना ही नहीं, तब तक किसी भी सौन्दर्यवती कन्या के प्रति मुझे आकर्षण नहीं हुआ। मुझे कभी किसी लड़की से बात करने की बेकरारी नहीं रही। अरे, जब माताजी पिताजी ने मुझे बुलाकर कहा कि 'बेटा, तुझे रुक्मिणी के साथ शादी करने के लिये कावेरी जाना है!' मैंने मौन रहकर सम्मति दे दी। पर मुझे जरा भी खुशी नहीं हुई इस बात को सुनकर! और नहीं कुछ गुदगुदी सी पैदा हुई मन में! हाँ, मैंने कावेरी जाने की तैयारियाँ कर दी। मां की खुशी तो आसमान को छू रही थी। राजमहल और राजधानी में वायुवेग से यह समाचार फैल गये। चौतरफ उत्सव और उल्लास का वातावरण छा गया। सब लोग मुझे हंस हंस कर देखने लगे। मित्रों ने मेरी हंसी-ठिठोली उड़ाना चालू किया। मैं सुनु वैसे रुक्मिणी के रूप की वाह वाह करने लगे।

पिताजी ने मित्र राजाओं और स्नेही स्वजनों को ये समाचार पहुँचाने के लिये राज्य के पुरुषों को भेज दिये थे! कावेरी के राजदूत को सोने का हार भेंट में देकर रवाना कर दिया। राजदूत बड़ी प्रसन्नता के साथ विदा हुआ। शादी की बारात के लिये जोर शोर की तैयारियाँ होने लगी। मेरे मित्र राजकुमारों का आना चालू हो गया। विशाल सेना भी तैयार हो गयी।

विविध वाजिन्त्रों से सारा नगर झूम उठा। गजसेना, अश्वसेना और पैदल सैन्य तैयार हो गया। मित्रों ने मुझे सजाना प्रारंभ किया। मेरे मन को खुश करने के लिये सभी आतुर थे। मैं भी हंसता हुआ सबको आनन्दित कर रहा था। हर एक प्रवृत्ति में रस लेता था। फिर भी एक बात थी! न जाने क्यों मेरे भीतर कोई प्यार भरी खुशी की खुशबू नहीं फैल रही थी! मेरा मन उदास था.....! बड़ी शालीनता के के साथ शुभ मुहूर्त में मैंने कावेरी की ओर प्रयाण कर दिया। •

२.

उत्तर दिशा में हमारा प्रयाण अनवरत चलता रहा। उत्तर दिशा की धरती मनमोहक थी, प्रकृति की गोद में रहने का अवसर मेरे लिये तो पहला था। चोतरफ प्रकाश फैल रहा था। वायु की हल्की हल्की लहरें आती थीं और जंगल में खिले हुए भिन्न भिन्न फूलों के पराग से मन मस्त बन जाता था। सारे तन-बदन में खुशबू फैल रही थी। जंगल में बसने वाले जानवर हमें देखकर हमारे काफिले से दूर दूर भाग जाते थे और हमें टकटकी बांधे देखते थे। आकाश की गोद में कई रंग-बिरंगे पंखियों के टोले उड़ रहे थे।

एक प्रहर बीत गया। पड़ाव के लिये योग्य भूमि मिलने पर हमने हमारा पहला पड़ाव डाला। एक बहुत बड़ी छावनी खड़ी हो गई। मैं अपने मित्र राजकुमारों के साथ आस-पास के प्रदेश में घूमने के लिये निकल पड़ा। वैसे भी मुझे निसर्ग की सुन्दरता से काफी लगाव था....और फिर यो तो पूरा का पूरा प्रदेश ही हरियाली से छाया हुआ था। हमारे राज्य से निकट का प्रदेश होने पर भी मैं कभी इस धरती पर पहले आया न था। मैंने अपने मित्रों से कहा :

'कितना सुहावना प्रदेश है।'

'कनक, इससे भी सुहावना एवं लुभावना प्रदेश तो आगे आयेगा। कावेरी के रास्ते में कदम कदम पर कुदरत ने सौन्दर्य की कालीन बिछा रखी है। वैसे भी अपने मध्यप्रदेश में नदियाँ एवं झरने, तालाब एवं पर्वतों की बोलबाला है। बाग-बगीचों की बात ही न्यारी है।' कुमार, यहाँ से दस कोस आगे बढने पर एक जंगली प्रदेश आयेगा। उस अटवी पर राजा अरिमर्दन का आधिपत्य है।'

'ऐसा ? अरिमर्दन राजा के प्रदेश में से अपने को पसार होना है ? अरिमर्दन बेमतलब हमारे साथ शत्रुता रखता है।'

मैंने अरिमर्दन के साथ हमारे टूटे हुए राजनैतिक सम्बन्धों की ओर इशारा किया। भोजन का समय होने पर अपने पड़ाव पर वापस लौट आये। साथ बैठकर भोजन किया। विश्राम करके झूकती दुपहर को आगे प्रयाण करने का आदेश दिया। हम आगे बढ़े। अभी अटवी के समीप पहुँचे ही थे कि संध्या हो गयी। आखिर हार कर हमें अटवी के समीप ही अपना पड़ाव डालना पड़ा। थोड़ी ही देर में एक छोटा सा नगर बस गया। चोतरफ मशाले जला दी गयीं। सैनिकों ने सुरक्षा का अच्छा प्रबन्ध कर दिया। चूंकि हम दुश्मन की सीमा में थे।

हमारी रात आराम से बीती। तड़के ही हम लोगों ने आगे प्रयाण कर दिया। अटवी में से हमारा कारवाँ गुजरने लगा। दो प्रहर के पश्चात् हम लोग अटवी को उलांघ कर उस पार पहुँच गये। वहाँ पड़ाव डाला। सभी अपने अपने दैनिक प्राभातिक कार्यों में व्यस्त थे। मैं भी स्नानादि से निपटकर दुग्धपान करने के बाद एक सुन्दर वृक्ष की छाँव में सिंहासन पर बैठा हुआ भावी-जीवन के सपनों में खोया

हुआ था। अतीत की स्मृतियों को याद करते रहना जैसे मानव स्वभाव है, वैसे ही भविष्यकालीन सुखद कल्पनाओं के गगन में उड़ते रहना भी मानवीय सहज प्रकृति है। मैं भी ऐसे ही सपनों में सफर कर रहा था... कि प्रतिहारी ने आकर सूचना दी :

'महाराजकुमार, एक राजदूत आपसे मुलाकात मांग रहा है।'

'ले आओ उसे।' प्रतिहारी को सूचना देकर मैं सोचने लगा : 'इस जंगल में कौन राजदूत मिलने आया होगा ? इतने ही में राजदूत आकर बिना किसी शिष्टाचार के, नमन या अभिवादन किये बगैर बोलने लगा :

'राजकुमार, मैं राजा अरिमर्दन का दूत हूँ। महाराजा ने तुम्हें कहलाया है कि 'हमारे प्रदेश में हमारी इजाजत के बिना प्रवेश करके तुमने अपनी मौत को पुकारा है। यदि तुम्हें युद्ध करना हो तो तैयार हो जाओ वर्ना यहीं से वापस लौट जाओ। मैं तुम्हें जिन्दा जाने दूंगा।' यह सन्देश अरिमर्दन महाराजा का है....।'

मैं तो दूत की बातें सुनकर स्तब्ध रह गया। मेरा तन-बदन रोष से भर गया। मैं सिंहासन पर से खड़ा हो गया। दूत को कह दिया :

'अरे दूत, तू यहां से चला जा। तेरे उस दुष्ट राजा को कहना कि राजकुमार तो तुम्हारा वध करने के लिये ही यहां आया हुआ है। मैं तो युद्धप्रिय हूँ ही। युद्ध के लिये तैयार ही हूँ। तू जा और अपने राजा को बोल कि वो मेरी शरण में आ जाय !'

दूत तुरन्त ही वहाँ से चला गया। मैंने मित्र राजकुमारों को एवं सेनापति को बुलाकर सारी घटना समझायी। मित्रों ने कहा : 'हमें यह कल्पना थी ही। हम तय्यार ही बैठे हैं....।'

सेनापति ने आगबबूला होते हुए कहा : 'महाराजकुमार आप निश्चित रहिये, अपने पास विशाल सेना है....। महाराजा के मन में ऐसे किसी उपद्रव की आशंका थी ही, अतः उन्होंने चुने हुए सैनिकों का दल ही अपने साथ भेजा है। हम सब तैयार ही हैं, आने वाली हर परिस्थिति के लिये। मैं अभी जाकर सबको सूचना दे देता हूँ....।' मैंने भी शीघ्र बख्तर लगाया....और शस्त्रों से सज्ज गया। मित्र भी शस्त्रों से सज कर मेरे पास आ गये। मेरी धारणा थी कि अरिमर्दन अपनी सेना के साथ निकट के प्रदेश में ही छिपा होना चाहिए, ताकि वो हम पर अचानक धावा बोल सके। इतने में ही दूर दूर धूल उड़ती दिखाई देने लगी। विशाल सेना के साथ वो आ रहा था। मैंने भी तुरन्त अश्व को तैयार किया और अश्वारूढ़ बनकर उस दिशा में अपनी सेना के साथ प्रयाण कर दिया।

दोनों सैन्य आपस में टकराये। खूंखार जंग होने लगा। दो हाथों में नंगी तलवारों के साथ मैं अरिमर्दन के निकट पहुँचने की कोशिश में था। मेरे सैनिक पूरी ताकत से डटकर मुकाबला कर रहे थे। मैंने जाकर अरिमर्दन को ललकारा : ए कायर, यह मैं तेरा काल कनकरथ तेरे सामने हूँ। आ, मुझसे लड़!'

वो मेरी तरफ आगे बढ़े इसके पहले तो मैंने एक छलांग लगायी और सीधे उसके घोड़े पर। उसके लिये मेरा यह हमला अप्रत्याशित था। वो कुछ करे, इसके पहले तो मैंने उसे बन्दी बनाकर पकड़ लिया। अपने राजा को कैद देखकर उसके सैनिक भी नौ-दो ग्यारह होने लगे। मेरी सेना ने उनका पीछा किया। मित्र राजकुमारों ने अरिमर्दन को लकड़ी के पिंजरे में बन्द कर दिया। मैंने मित्रों से पूछा :

'इसका क्या करना है ?'

'अभी तो अपने साथ ले ही ले लो ! आगे सोचेंगे ।'

हमारा प्रयाण कावेरी की ओर आगे बढ़ा । कुछ दिनों बाद मेरे मन में अरिमर्दन के प्रति सहानुभूति पैदा हुई । मैंने उसे मुक्त कर दिया और कहा :

'जाओ तुम्हारे नगर में और खुशी से राज्य करो ।' पर अरिमर्दन के चेहरे पर कोई आनन्द या प्रसन्नता की रेखाएं नहीं उभरी । वो गम्भीर और प्रशांत था । लगता था जैसे किसी गहन विचार में डूबा हो । मैंने दोबारा उससे कहा :

'तुम अब मुक्त हो, जहां जाना हो वहां जा सकते हो ।'

उसने मेरे सामने देखा । उसकी आंखों में तेज था । 'राजकुमार, तुम मुझे तुम्हारी कैद से मुक्त कर रहे हो यह तुम्हारी उदारता है । मैं तुम्हारा आभारी हूं, परन्तु क्या तुम और मैं सही अर्थों में मुक्त हैं सही?'

'मतलब ?' मुझे ताज्जुब हुआ उसकी ऐसी बातें सुनकर ! समझ में नहीं आयी अरिमर्दन की बात मुझे ।

'यानी राजकुमार, अपन मुक्त नहीं हैं । अपन गुलाम हैं....बंदी हैं । अपनी आत्मा अनन्त कर्मों की जाल में फंसी हुई है । अपन पराधीन हैं । अब मुझे राज्य से कोई लगाव नहीं रहा । न तो राज्य चाहिये और नहीं सुख वैभव चाहिए । संसार के सारे सुख मात्र मनोकल्पना की माया-मरीचिका है । उस मरीचिका के पीछे दौड़ते दौड़ते जिन्दगी का कितना मूल्यवान समय गंवा दिया ? अब तो जगना है ।'

अरिमर्दन !

अद्‌भुत परिवर्तन !

अभी कुछ दिनों पहले का अरिमर्दन कहां और आज का अरि-मर्दन कहां ? कहां वो खून का प्यासा, बदले की आग में सुलगता अरि-मर्दन और कहां यह घोर-गम्भीर और प्रशान्तमना अरिमर्दन ! मैंने अरिमर्दन को मेरे समीप के सिंहासन पर बैठने का अनुनय किया। वो बैठे और अनन्त आकाश के तट पर रास रचाते बादलों की अठखेलियाँ को निहारते ही रहे। मैंने कहा : 'राजन्, मेरी ओर से काफी कष्ट और पीड़ा पहुँची है तुम्हें !'

'नहीं नहीं, पीड़ा देने तो मैं आया था। तुम कहाँ मुझे दुःखी करने आये थे ? तुमने तो दुश्मन के साथ भी प्यारभरा सलूक रखा है।'

'कहिये, अब मैं आपकी क्या सेवा करूं ?' मैंने पूछा।

'अब तुम्हें क्या, किसी को भी मेरे लिये कुछ नहीं करना है। अब तो जो भी करना है मुझे ही करना है।'

'क्या करना चाहते हो ?'

'अब मैं सारे संसार का त्याग करूंगा। संसार के भोगसुखों का त्याग करूंगा। आत्मकल्याण की साधना में लीन बनना चाहता हूँ....।'

'यानी !!' मैं चौंक उठा ....जिज्ञासा को व्यक्त करते हुए पूछ बैठा।

मैं परमात्मा नमिनाथ के चरणों में जीवन समर्पित करके आत्म-कल्याण की राह लूंगा। कर्मों के बंधनों को तोड़ने का कड़ा पुरुषार्थ करना है मुझे।'

अरिमर्दन वास्तव में आंतरशत्रुओं का दमन करने के लिये कटिबद्ध बन गये थे। मैं सिंहासन पर से खड़ा हो गया। उनके चरणों में सर टिका दिया। उन्होंने मुझे खड़ा किया, अपने सीने से लगाकर देर तक मेरे सर पर हाथ फेरते रहे। फिर मुझसे क्षमायाचना करके वहां से चल दिये। मैं.. हम उनके पीछे-पीछे चले....थोड़ी दूर जाकर उन्होंने हमें रोका और वापस लौटने को कहा। हम खड़े रहे....और वे चल दिये दूर-दूर....।

आमूल परिवर्तन! युद्ध में हुए पराजय ने उनकी ज्ञान-दृष्टि को खोल दिया था। यह उनका दुःखगर्भित वैराग्य नहीं था। दुःख-गर्भित वैराग्य तो सुख के टुकड़े मिलते ही भाप की भांति उड़ जाता है। मैंने उनका राज्य लौटा दिया। फिर भी उन्होंने त्याग की राह पसन्द की। उनके सभी सुख उन्हें वापस मिल रहे थे, फिर भी उन्होंने स्वीकार न किया।

मैंने बाद में सुना था कि वे वहां से सीधे ही परमात्मा नमि-नाथ के चरणों में पहुँच गये थे। अपनी राजधानी में भी नहीं गये थे। परमात्मा के चरण. में जीवन:समर्पित करके, तप-त्याग, ज्ञान-ध्यान में लीन बनकर उन्होंने अपनी आत्म-साधना करना प्रारम्भ कर दिया था।

इससे हमारा प्रयाण आगे बढ़ाया। दिल काफी उदास था। अरिमर्दन के प्रति हृदय में सहानुभूति की संवेदना छलक रही थी।

अरिमर्दन का निर्णय सही था ऐसा लगा, परन्तु वो साधु न बनते हुए राज्य में रहते....ऐसा मन में हो रहा था। चूंकी मुझे उनके प्रति स्नेह हो गया था और स्नेह होने का कारण भी तो उनका सर्वस्व के त्याग का निर्णय ही था। युद्ध तो भूला गया। शत्रुता तो हवा हो गयी ! उपर से प्यार उभरने लगा ! हमारे पांव जंगल की राह पर दौड़ रहे थे, मन अरिमर्दन के पीछे दौड़ रहा था ! इस घटना की मेरे दिल पर काफी गहरी असर हुई थी। वैसे भी मैं भावुक तो था ही। ऐसी करुण घटनाओं की असर मेरे दिल पर जल्द हो जाती थी।

हमने एक सुहावने वन्यप्रदेश में प्रवेश किया। सबकी इच्छा थी कि इस प्रदेश में विश्राम किया जाय। सब थक भी गये थे। हमने वहीं पर रात-दिन पसार करने का निर्णय करके पड़ाव डाला। वन का प्रदेश नगर जैसा बनाया। जैसे कि जंगल में मंगल !

पड़ाव तो डाल दिया, पानी की समस्या मुंह फाड़े खड़ी थी। वहां पानी नहीं था। पानी की खोज करने के लिये कुछ सैनिक उस प्रदेश के भीतरी भाग में गये। हमारे पास जो पानी था उससे मध्यान्ह का भोजन तो हो गया। पर पानी की खोज में गये सैनिक वापस नहीं लौटे। मुझे चिन्ता हुई। तीसरा प्रहर पूरा हो चुका था। मैं घुड़सवारों को रवाना करने की सोच ही रहा था कि वे सैनिक आ गये पानी लेकर।

मैंने गुस्से में उनसे पूछा :

'सच कहो, तुम लोग कहां गये थे ? तुम्हें पानी लेने भेजा था या घूमने फिरने ? तुम कहां चले गये थे ? इतना समय क्यों लगा तुम्हें ?'

उन्होंने स्वस्थता से मुझे जवाब दिया :

'कुमार, हम यहां से पूर्व दिशा में गये थे। वहां एक उद्यान जैसे प्रदेश में हम पहुंचे। वहां स्वच्छ पानी से भरा हुआ एक सरोवर था। हम खुश-खुश हो गये। हम उस प्रदेश के सौन्दर्य को देख रहे थे....वहीं एक तरफ थोड़ी दूरी पर झूले पर बैठी हुई कन्या को देखकर हम स्तब्ध रह गये। क्या खूबसूरती थी उसके चेहरे पर! हम सोचने लगे 'क्या यह वनदेवी है? या फिर स्वर्ग की अप्सरा यहां पर आ गई है? अद्‌भूत रूप और अनूठा सौन्दर्य! वो तो उसकी मस्ती में झूलती हुई किसी गीत की कड़ी गुनगुना रही थी। पर जैसे ही उसकी नजर हम पर पड़ी, तुरन्त वो झूले से उतर कर अदृश्य हो गई। पल-भर में वो हमारी आंखों से ओझल हो गई।

हम उसे ढूंढने के लिये इधर उधर झुरमुटों में घूमते रहे। एक-एक वृक्ष की ओट में जाकर तलाश की, पर वो नहीं मिली। हम काफी निराश हो गये है। अभी भी हमारी कल्पनाओं में उसकी आकृति स्पष्ट तैर रही है। बस, हमारी देरी का यही एक कारण है।'

उन पुरुषों की बात सुनकर मेरा मन मचल उठा। मेरे मनःप्रदेश में हलचल सी मच गई। सूरज संध्या के आंचल में अपना मुंह छुपाये जा रहा था। संध्याकालीन भोजन वगैरह से निवृत्त होकर मैं, पलंग पर लेट गया,....पर आंखों में नींद नहीं आ रही थी। मुझे तो उन पुरुषों की बातों ने ऐसा अभिभूत बना दिया था कि बस! उस कन्या की कल्पना में ही मैं खो गया। न तो मैंने उसे देखा था कभी! केवल सैनिकों की बातों से मेरा मन उसकी कल्पना में डूब गया और न जाने कब मैं सो गया....

२.

सैनिकों ने जिसके अद्‌भुत रूप की मन भर कर प्रशंसा की थी, मैंने उसको अपनी आंखों से देखने का निर्णय किया। प्रशंसा के शब्दों के सहारे मैंने उस वनकन्या की कल्पना-मूर्ति को मन ही मन तराश लिया था। उस कल्पना-मूर्ति की स्मृति मेरे मन को अजीब सी संवेदनाओं से सभर बना रही थी। कभी नहीं उठे....ऐसे भावों से मेरा हृदय हराभरा बन रहा था। मेरे सैनिक उस रूपसी को नहीं खोज सके, परन्तु मैं तो खोजूंगा ही और उसके दिव्य रूप से अपनी आंखों की कटोरी को भर लूंगा।

सुबह तड़के ही उठकर मैंने छावनी में घोषणा करवा दी कि 'आज अपन को यहीं विश्राम करना है, आगे प्रयाण नहीं करना है !'

स्नानादि से निवृत्त होकर मैंने परमात्मा का पूजन किया। मां ने बचपन से ही प्रतिदिन परमात्म-पूजन के संस्कार डाले थे। इस प्रवास में भी मैंने रत्न की एक सुन्दर प्रतिमा साथ रखी थी। स्वच्छ जल से परमात्मा का अभिषेक किया।....सुन्दर खुशबू भरे ताजे फूलों

से मैंने परमात्मा की पूजा की। आज तो पूजा करते हुए बहुत आनन्द आया। रोंया रोंया पुलकित हो उठा। स्तवना करते हुए आंखों में आंसू उभर आये, किसी अव्यक्त दिव्य आनन्द की अनुभूति ने मेरे अंतःकरण को हरा भरा बना दिया। मेरी जिन्दगी की यह अनूठी घटना थी। 'परमात्म-पूजन से दिव्य आनन्द की यह अनुभूति हो सकती है।' इस सत्य को मैंने उस दिन मन ही मन स्वीकार लिया। उस दिन परमात्मा की वीतराग-मूर्ति में मुझे प्रसन्नता छलकती दिखी। परमात्मा की आंखों में प्यार की लहरें उठती दिखी।

पूजनविधि पूर्ण करके मैंने मित्र राजकुमारों के साथ दुग्धपान किया और कल जो सैनिक वनकन्या को देखकर आये थे उन सैनिकों को साथ लेकर हम उस दिशा में चल पड़े। ज्यों ज्यों उस दिशा में आगे बढ़ते गये त्यों त्यों निसर्ग की शोभा अनूठी प्रतीत हो रही थी। चौतरफ बिछी हरियाली, जैसे धरती ने हरी चूनर ओढ़ी हो! वृक्षों की टहनियों पर चहकते रंगबिरंगे फूलों से पक्षी! 'जंगल में कुदरत ने इतना शृंगार क्यों सजाया होगा?' यह प्रश्न मेरे दिमाग में कौंधा। और मन के दर्पण में एक सुन्दर और निर्दोष आकृति उभर आयी। 'रजनीगंधा के रूप सी कन्या जिस वनप्रदेश में बसती हो, भला! वहां की कुदरत भी तो बिना शृंगार किये थोड़े रहेगी??'

हम एक विशाल सरोवर के समीप जा पहुँचे। स्वच्छ पानी! पानी में श्वेत हंस मुक्तमन से खेल रहे थे। शीतल समीर का सुखद स्पर्श तन मन को भरा भरा बना रहा था। मेरे सैनिकों ने कहा 'कुमार, यही वो प्रदेश है, जहां पर कल हमने उस सौन्दर्यराशि कन्या को देखा था।' मेरी प्यासी निगाहें तड़फ उठीं। वनकन्या को खोजने के लिये बेचैन आँखें चौतरफ झांकने लगी। सरोवर के चौतरफ घूमता हुआ मैं उसको

ढूंढने लगा। इतने में मेरी निगाहें एक वनविकुंज के पास खड़ी हुई कन्या को देखकर ठिठक गयी। जब मैंने देखा कि वो टकटकी बांधे मेरी तरफ निहार रही है तब मेरा मन अजीब संवेदना से सिहर उठा।

मैं देखता ही रहा। वो बिना हिले डुले उसी स्थान पर खड़ी थी जैसे की संगमरमर की तराशी हुई प्रतिमा खड़ी हो! कभी....कहीं पर भी न देखा हुआ रूप और सौन्दर्य मेरी आँखों में बस गया। मुझे लगा....उर्वशी यदि होगी भी स्वर्ग में तो इससे ज्यादा सुन्दर नहीं हो सकती।

मुझे विचार आया....'यह कौन होगी। इस बीहड़ जंगल में अकेली कैसी निर्भयता से रहती है? क्या सचमुच यह कोई दिव्य प्रदेश की अप्सरा होगी? इसका कोई मालिक भी होगा? या फिर अकेली ही होगी?' मेरे मन में विचारों की दीर्घयात्रा प्रारम्भ हो गई। मैं बार बार उसके सामने देख रहा था। वो मेरे सामने निहार रही थी। उसकी आँखों में कौतुहल और आश्चर्य की संमिश्र रेखाएं झलक रहीथी।

मेरा मन उसके प्रति अनुरक्त बन गया। 'मैं उसके पास जाऊँ? और वो अदृश्य हो जाये तो?' मेरे दिमाग में, कल मेरे सैनिकों ने की हुई बात कौंध उठी। पर मैंने सोचा 'वो भी तो मेरे सामने कभी की देख रही है, हो सकता हैं उसके दिल में भी मेरे लिये प्यार-स्नेह जगा हो, नहीं तो वो भाग जाती।...' मैं ऐसा सोच ही रहा था कि मेरे सैनिकों की चहल पहल मुझे सुनाई दी। वे सब मस्ती में झूमते हुए तालाब की ओर चले आ रहे थे। उस वनकन्या की निगाहें ज्यों ही उन सैनिकों की ओर गयी, वो तुरन्त वहाँ से दौड़ गई। कहाँ चली गई इसका मुझे भी ध्यान न रहा।

मैंने मित्र राजकुमारों को वापस छावनी में लौटने को कहा और 'मैं थोड़ी देर में लौटता हूँ।' कहकर जल्दी से आगे बढ़ा। उस वन-कन्या को खोजता हुआ मैं चलता ही रहा। मेरा तन-मन बेचैनी के बाहुपाश में जकड़ा गया था। अनुराग की लालिमा मेरे तन-बदन पर उभर आयी थी। उसे देखने के बाद उसे पाने के लिये मैं लालायित हो उठा था। मेरा पौरुष मुझे चुनौती दे रहा था।

मैं कुछ आगे बढ़ा। ऊंचे ऊंचे अशोक वृक्षों की घटाओं के बीच खड़े एक सुहावने मन्दिर को मैंने देखा। मन्दिर के आसपास का प्रदेश स्वच्छ था। मैंने सोचा 'अवश्य वो रूपसी इस मन्दिर में ही होनी चाहिए। सैनिकों से डरकर वो मन्दिर में ही छुप गयी होगी।....' यह सोचकर मैंने मन्दिर में प्रवेश किया।

मन्दिर में प्रवेश करते, सामने ही परमात्मा ऋषभदेव की भव्य और मनोहारी मूर्ति के दर्शन हुए। मेरे हाथ जुड़ गये,....मस्तक झुक गया। 'नमोजिणाणं' होठों पर से सरक आया। मैं उस वनकन्या को भूल गया। कितना अकायक परिवर्तन! मनके विचारों की कैसी बदलाहट! निमित्त का कैसा तीव्र असर? मेरे मन के विकार शान्त हो गये। मेरी आंखें परमात्मा आदिनाथ की करुणासभर आंखों से मिल गयी।

मेरा मन हो उठा: 'मैं परमात्मा का पूजन करूं।' मेरे वस्त्र तो शुद्ध ही थे। मैं मन्दिर के बाहर आया,....पास की लताओं पर से सुगन्ध भरपूर फूलों को चुन लाया। उत्तरीय वस्त्र से मुख कोश बांधकर परमात्मा की पुष्पपूजा की। पुष्पपूजा करते वक्त मेरा रोयां रोयां प्रसन्नता से भर गया। ऐसी अद्भुत संवेदना थी कि जिसे शब्दों में

बांधना मुमकिन नहीं। मेरे होठों पर से सहज रूप में परमात्मा की भक्ति के शब्द सरकने लगे। आंखों से आनन्दाश्रु टपकने लगे।

उत्तरीय वस्त्र से आँखे पोंछकर देखता हूँ तो मन्दिर के सोपान चढकर एक वयोवृद्ध सन्यासी धीरे धीरे मन्दिर में चले आ रहे हैं। माथे पर श्वेत बालों की लम्बी जटा है। मैंने परमात्मा को प्रणाम किया। खड़ा हुआ और मुनि के सामने जाकर उनको प्रणाम किया। प्रणाम करता हूँ इतने में तो हाथों में फूलों का थाल लेकर वही वनकन्या जल्दी से मन्दिर में आकर साधु पुरुष के पीछे खड़ी हो गयी।

वो मेरे सामने देख रही थी। मैं वृद्ध मुनि के साथ बातें करते करते उसके सामने देख लेता था। उसकी आँखों में प्रेम था...आदर था.... बहुत कुछ था। घनी काले सावन की घटा से बालों के बीच उसका गौर मुख....बादलों के बीच चमकते चांद सा लग रहा था। वृद्धत्व की छाया ने जिनके शरीर को झुर्रियों से भर दिया था। ऐसे उन महामुनि ने मीठी बोली में मुझे पूछा : 'वत्स, तू किस कुल का दीपक है? तेरा नाम क्या है और इस वन प्रदेश में किस कारण तेरा आना हुआ है?'

मैंने संक्षेप में मेरा परिचय दिया। ऋषि ने मुझे ज्यादा पूछा भी नहीं। शायद मेरे दिये परिचय से उन्हें संतोष हो गया होगा, ऐसा मुझे लगा।

मैंने मेरी जिज्ञासा को व्यक्त करते हुए ऋषि से पूछा : 'महर्षि, इस बीहड़ वन में इतना भव्य जिनालय किसने निर्मित किया है? आपका परिचय क्या है और यह वनकन्या कौन है? यदि आपको एतराज न हो तो मेरे प्रश्नों का समाधान दीजिये।'

उन ऋषिराज ने बड़े प्यार से मुझे कहा : 'कुमार, हमारी कहानी काफी लम्बी है। हालांकि तुझे कहने में मुझे कोई एतराज नहीं, परन्तु पहले हम परमात्म-पूजन करले। तू थोड़ी देर हमारी प्रतीक्षा कर।'

मैंने उन महात्मा में जैसे साहजिक कोमलता और स्नेहार्द्रता पायी वैसे ही उनकी शब्दों की पर्तों में छिपी वेदना की झलक भी मैंने पा ली। उनकी काया अतिकृश हो चुकी थी, परन्तु उनके समग्र व्यक्तित्व में अनूठा आकर्षण था। एक सर्वविजयी तेज उनके चेहरे पर दमक रहा था। उनका व्यक्तित्व आकर्षक था, भव्य था। लम्बी श्वेत जटा और दाढ़ी में उनकी तेजस्विता विशेषरूप से निखर रही थी। वे परमात्मा के अर्चन पूजन में प्रवृत्त बने। वो कन्या भी महर्षि के साथ ही भीतर चली गई थी और उन्हें पूजा में सहायता कर रही थी। उसके चेहरे पर निरी मुग्धता-बड़ी मासूमियत से तैर रही थी। दुनिया के धूप-छांव से बिल्कुल अन्जान उस कन्या की ओर मात्र उसके सौन्दर्य से ही नहीं, पर किसी अज्ञात आकर्षण से मैं खींचा जा रहा था। उसके प्राणों में भी मेरे लिये प्रेम का झरना बह रहा है, यह मैं जान गया था।

अत्यन्त शान्ति, समता एवं अपूर्व भक्ति भाव से पूजा करके वे महर्षि मेरे पास आये। मेरे सामने देखकर उन्होंने कहा : 'कुमार, यहाँ पास में ही मेरी कुटिया है, वहीं चलो, तुम्हारा सत्कार करने का भी मुझे अवसर मिलेगा।' मैंने मौन सहमति दी और उनके साथ ही मन्दिर के सोपान उतरने लगा। ऋषिकन्या महर्षि का हाथ पकड़ कर चल रही थी। मन्दिर के पास ही उनकी झोंपड़ी थी।

वो झोंपड़ी नहीं थी, पर एक छोटा सा आश्रम ही था। उस आश्रम में स्वच्छता, सुन्दरता और पवित्रता का संगम बना हुआ था।

आंगन में छोटी सी पुष्पवाटिका थी। अलग-अलग तरह के सुगन्धी पुष्पों से वो वाटिका महक रही थी। हम वाटिका में से पसार होकर काष्ट, पर्ण और मिट्टी से बने एक विशाल कक्ष में प्रविष्ट हुए। मेरे लिये ऋषिकन्या ने दर्भासन बिछाया। ऋषि काष्टासन पर बैठे। उनके पास ही में दर्भासन पर बैठा। ऋषिकन्या अन्दर के खण्ड में चली गई और कुछ ही देर में दूध का प्याला और स्वादिष्ट फल लेकर आ गई। ऋषि ने मुझ से कहा : 'हमारा आतिथ्य स्वीकारो कुमार, हमें बहुत आनन्द होगा।' ऋषिकन्या मौन खड़ी थी, परन्तु वो भी मुझे मौन रहकर आग्रह कर रही थी। मैं उनका प्रेमाग्रह न टाल सका। आतिथ्य का स्वीकार करके मैंने सन्तोष पाया।

ऋषि ने कहा : 'कुमार, अब मैं तुम्हें इस जिनमन्दिर के बारे में, मेरे बारे में और इस कन्या के बारे में सारी बातें विस्तार से बतलाता हूँ। हमारी यह कहानी दर्द और आंसूओं से सनी है, फिर भी उस व्यथा को हम हृदय के भीतर भर कर जीवन जी रहे हैं।

अपने ही इस देश में अमरावती नाम का एक नगर है। उस नगर के राजा का नाम था हरिषेण और रानी का नाम था प्रियदर्शना। उनके एक पुत्र था, उसका नाम था जितसेन।

एक दिन हरिषेण राजा अश्वारूढ़ होकर नगर के बाहरी इलाके के उद्यान में जाते हैं। जिस अश्व पर वे आरूढ़ थे, उन्हें पता नहीं था कि वो अश्व नया है और उसे विपरीत शिक्षा दी गयी है! अश्व पर राजा का अंकुश न रहा, वो तो हवा की भांति दौड़ता ही रहा। कोसों तक वो दौड़ता रहा। अन्त में इस वनप्रदेश में आकर वो अश्व खड़ा रह गया। जैसे ही अश्व खड़ा रहा, राजा नीचे उतर गया।

राजा के सैनिक भी राजा को खोजते हुए इस प्रदेश में आ पहुँचते हैं। राजा हरिषेण इस वनप्रदेश में घूमते हुए इस आश्रम में आ पहुँचे। उस समय इस आश्रम में 'विश्वभूति' नामक महर्षि कुलपति थे। अनेक संसारत्यागी संन्यासी इस आश्रम में रहकर आत्मसाधना की पगडंडी पर आगे बढ़ते रहे थे।

महर्षि विश्वभूति की सन्यास परम्परा कच्छ और महाकच्छ की थी। जो कि भगवान ऋषभदेव के ही पौत्र थे, और जिन्होंने परमात्मा ऋषभदेव के साथ ही संसार छोड़ा था, परमात्मा को जब एक वर्ष तक भिक्षा न मिली तब कच्छ-महाकच्छ परमात्मा को छोड़कर गंगा के किनारे बस गये थे, वहीं पर कन्दमूल और फलादि का आहार करते हुए सतत तपश्चर्या करते रहे और परमात्मा ऋषभदेव का नाम स्मरण किया करते रहे। उन कच्छ-महाकच्छ महर्षिओं का साधना मार्ग अभी भी चला आ रहा है, उनकी परम्परा में ये 'विश्वभूति' महात्मा हुए थे।

राजा हरिषेण जब आश्रम में आये तो उन्होंने कुलपति को विनय से प्रणाम किया। कुलपति ने भी आशीर्वचन से उनका स्वागत किया। कुलपति ने राजचिन्हों से 'यह राजा है,' ऐसा जान लिया था। राजा को प्रेमपूर्ण शब्दों में पूछा :

'महानुभाव, तुम कहाँ से यहाँ आ गये ? तुम अकेले क्यों हो ?'

राजा ने अपना सही परिचय दिया और बनी हुई घटना बतलायी। इतने में तो राजा के सैनिक आश्रम में आ पहुँचे। राजा को देखकर वे आनंदित बने। कुलपति ने आश्रम के समीप ही सैनिकों

के लिये तम्बू डलवाये। राजा को महर्षि विश्वभूति का स्नेहपूर्ण व्यवहार पसन्द आ गया था। उनके मन को आश्रम का वातावरण बहुत भा गया। आश्रमवासी साधु सन्यासियों का प्रसन्नताभरा, पवित्रता भरपूर और आत्म-आराधना से पूर्ण जीवन देखकर राजा को अनहद प्रमोद हुआ।

महर्षि विश्वभूति ने जैसे राजा के स्वागत भोजन वगैरह में किसी तरह की कमी नहीं रखी वैसे ही राजा के हृदय को भी धर्म-वाणी से आप्लावित कर दिया। राजा के दिल में महर्षि के प्रति अंतरंग प्रीति पैदा हो गई। महर्षि ने परमात्मा ऋषभदेव के ऐसे गुण गाये कि राजा के हृदय में ऋषभदेव के प्रति अपूर्व भक्ति पैदा हो गई। उसके मन में हो आया कि मैं इस आश्रम में परमात्मा ऋषभदेव का एक सुन्दर जिनालय बनवाऊँ और परमात्मा की नयनरम्य प्रतिमा विराजित करूँ।' उन्होंने कुलपति को अपनी भावना निवेदित की। कुलपति ने राजा के मनोरथ की अनुमोदना की। राजा ने तुरन्त ही सैनिकों को बुलाकर आदेश दिया कि आश्रम में शीघ्र एक सुन्दर जिनमन्दिर का निर्माण कार्य प्रारम्भ करो। नगर में जाकर श्रेष्ठ वास्तुविदों को ले आओ। सारी सामग्री इकट्ठी करो। जब तक जिनमन्दिर का निर्माण नहीं होगा मैं यहीं पर रहूँगा।'

'कुमार, राजा हरिषेण ने उल्लास और उमंग के साथ भव्य जिनमन्दिर का निर्माण किया। अभी-अभी तुमने जिन भगवन्त का सुगन्धी पुष्पों से पूजन किया वो मूर्ति भी राजा हरिषेण ने विराजमान की।'

मेरे एक प्रश्न का जवाब देकर वे महर्षि कुछ क्षणों के लिये रुके। मुझे सन्तोष था, मेरी एक जिज्ञासा पूरी होने का। ऋषिकन्या भी एक मन से सारी बातें सुन रही थी। कभी-कभी वो कनखियों से मेरे चेहरे के भावों को पढने के लिये मेरी ओर झाँक लेती थी। जब वो मेरे सामने देखती तो हमारी दृष्टि टकरा जाती। मैं रोमांचित हो उठता। ऋषिवर ने मेरी दूसरी जिज्ञासा का समाधान करने के लिये अपनी बात आगे बढायी।

•

४.

'कुमार, अब जिनमन्दिर का निर्माणकार्य समाप्त हो चुका, राजा हरिषेण ने कुलपति से कहा : 'हे कृपावंत, अब मैं अमरावती जाना चाहता हूँ, मुझे अनुज्ञा देकर कृतार्थ करें।' कुलपति का दिल राजा के लिये आदरयुक्त था, उन्होंने मधुरता से कहा : 'राजन्, आप प्रसन्नता से पधारें अपने नगर में। मैं बहुत प्रसन्न हूँ तुम्हारी अहोभावपूर्ण भक्ति देखकर। मैं तुम्हें एक 'विषापहर मंत्र' की दीक्षा देता हूँ। इस मंत्र के प्रभाव से किसी भी मनुष्य को कैसा भी जहर चढ़ा होगा, वह उतर जायेगा। तुम परोपकारी हो ...बहुजनहिताय और बहुजनसुखाय इस मंत्र का तुम प्रयोग करोगे, ऐसे विश्वास के साथ ही यह मंत्र तुम्हें देता हूँ।

राजा ने महर्षि के चरणों में माथा रख दिया। विनयपूर्वक मन्त्र-दीक्षा ग्रहण की और आँखों से बरसते आंसूओं को आंचल से पोंछता हुआ आश्रम से निकला। अमरावती की जनता ने अपने शासक का भव्य स्वागत किया। रानी प्रियदर्शना भी आनन्द से आप्लावित बन गई। कुमार जितसेन तो पिता को देखते ही नाच उठा।

एक दिन राजसभा में राजा हरिषेण वार्ता-विनोद कर रहे थे, वहाँ एक अपरिचित व्यक्ति ने राजसभा में प्रवेश किया और राजा को

प्रणाम करके उसने निवेदन किया, 'नरश्रेष्ठ, मैं मंगलावती नगर से आ रहा हूँ। हमारे राजा प्रियदर्शन और रानी विद्युत्प्रभा की इकलौती संतान उनकी पुत्री हैं, प्रीतिमति। प्रीतिमति बाग में टहलने गयी थी, वहां पर एक भयंकर सांप ने उसे डस लिया। राजकुमारी का देह निश्चेष्ट बन गया। राजा और रानी के दुःख-दर्द की सीमा नहीं है। राजमहल श्मशान सा वीरान बन गया है। सारे नगर में शोक की छाया फैली है। चूंकि प्रत्येक नगरवासी का मन राजकुमारी के प्रति स्नेहासिक्त है! राजा ने इस दुःखद स्थिति से आपको अवगत कराने के लिये मुझे भेजा है। ...' सन्देशवाहक पुरुष का गला रुंध गया....उसकी आँखें टपकने लगी।

राजा ने सन्देशवाहक से कहा, 'अपन इसी समय मंगलावती की ओर चलेंगे।' एक पल की भी देरी किये बिना राजा अश्वारूढ़ बन कर कुछ चुने हुए सैनिकों के दल के साथ मंगलावती की ओर चल दिया। हवा से बातें करते अश्व ने राजा को दूसरे दिन मंगलावती के राज पटांगण में पहुँचा दिया। सीधे ही राजमहल में जाकर राजा प्रियदर्शन से मिले। सारी स्थिति का जायजा लिया। राजकुमारी प्रीतिमति को देखा। राजकुमारी की सांसें धीमी चल रही थी। राजा हरिषेण ने तुरन्त 'विषापहार मंत्र' का प्रयोग प्रारम्भ किया। मंत्रदाता गुरुवर्य्य विश्वभूति को मन ही मन प्रणाम करके किये प्रयोग से कुछ ही क्षणों में राजकुमारी का शरीर विष के प्रभाव से मुक्त बन गया। उसने आँखें खोली। राजा प्रियदर्शन और रानी विद्युत्प्रभा ने राजकुमारी को उत्संग में लेकर चूम लिया। उनकी आँखें हर्षाश्रु से छलक रही थीं। हरिषेण काफी प्रसन्न थे अपनी मंत्र साधना के पहले प्रयोग की सफलता पाकर। उन्होंने प्रियदर्शन से कहा: 'अच्छा तो अब

मैं चलूं, अमरावती की ओर !' राजा प्रियदर्शन ने कहा : 'नहीं, मेरे परम उपकारी मित्र ! तुम्हें ऐसे ही नहीं जाने देंगे, कुछ दिन तो यहाँ रुककर हमारा आतिथ्य स्वीकारना ही होगा। हमारे चित्त को तभी सन्तुष्टि होगी।'

राजा हरिषेण प्रियदर्शन के आग्रह को टाल न सके, उन्हें रुकना ही पड़ा। इसी अरसे में राजा प्रियदर्शन ने रानी विद्युत्प्रभा के साथ विचार करके प्रीतिमती की शादी राजा हरिषेण के साथ करने का निर्णय किया। हरिषेण प्रियदर्शन के प्रति आग्रह को नकार न सके। उनकी शादी प्रीतिमती के साथ हो गई। प्रीतिमती को लेकर हरिषेण अमरावती लौटे। नगर जनो ने अपने राजा एवं नयी रानी का आनन्द-सभर स्वागत किया। रानी प्रियदर्शना ने भी प्रीतिमती को अपूर्व स्नेह से सत्कारा। प्रीतिमती ने रानी प्रियदर्शना में अपनी बहन सा स्नेह पाया। दोनों रानियों के साथ बरसों तक संसार-सुख में डूबे राजा हरिषेण का जीवन आनन्द पूर्वक बीत रहा था।

राजकुमार जितसेन की शादी एक सुशीला राजकुमारी से कर दी गयी थी। अभी जितसेन की शादी की शहनाईयाँ गूंज रही थी कि अचानक अल्प बीमारी का शिकार बनकर प्रियदर्शनी ने इस संसार से विदा ले ली। राजा हरिषेण के दिल पर इस घटना का बहुत गहरा सदमा पहुँचा। रानी प्रीतिमती भी व्यथित हो गई पर उसने हरिषेण को ढाढस बंधायी। राजा का मन हल्का हुआ, परन्तु अब उसे ऐन्द्रिक सुखोपयोग से विरक्ति हो गई। उसकी आत्मा बेचैन हो उठी, आत्म-साधना की राह पर चलने के लिये।

एक दिन संध्या के निखरते-बिखरते रंगों में डूबी शाम को उसने प्रीतिमती से कहा : 'देवी अब दिल नहीं लगता इन महलों की चार-

दीवारी में ! सांसारिक सुखों में कोई आकर्षण नहीं रहा है। चाहता हूँ अब तो आश्रम के साधनामय जीवन में प्रवेश करूं। आखिर, जिन्दगी भी तो बुलबुले सी क्षणिक है। परमात्मा ऋषभदेव के स्मरण-सानिध्य में ही जीवन की सफर करे, यही एक मनोकामना बनी रहती है।'

प्रीतिमती ने राजा की आंतर-इच्छा को परखा। उसने कहा: 'स्वामिन्, मैं आपकी भावना का आदर करती हूँ। उत्तरावस्था में आत्मकल्याण की साधना तो परमात्मा ऋषभदेव के द्वारा स्थापित संस्कृति का अंग ही है। वार्धक्ये मुनिवृत्तिः और योगान्ते तनुत्यजम् यह तो हमारी आर्य संस्कृति की अपूर्व देन है। मुझे भी आप जैसी जिन्दगी जीनी है। मैं भी आपके संग चलूंगी। त्याग की राह मैं भी लूंगी।'

राजा हरिषेण का मन प्रसन्न हो उठा। उन्हें अपना मनोरथ सफल होते दिखा, परन्तु रानी के साथ आने की बात से वो ठिठक गये। उन्होंने कहा:

'देवी, तुम तो यहीं राजमहल में रहो। यहां तुम्हें किसी भी तरह की तकलीफ नहीं होगी। आश्रम का साधनामय जीवन शायद तुम्हें अनुकूल न भी आये !'

'मेरे देव, मेरे मन तो जहां आप वहीं मेरा राजमहल है। आपकी छाया में ही मेरा स्वर्ग है। मैं आपकी आत्मसाधना में अवरोधक नहीं बनूंगी।

'क्या देवी, तुम्हें ऐसा लगता है कि राजकुमार जितसेन तुम्हारा खयाल नहीं करेगा ? तुम्हें अपमानित करेगा ?'

'नहीं देव, ऐसा कैसे हो सकता है ! राजकुमार तो मेरी आँखों का तारा है। उसे कितना लगाव है मुझ से, उसने मुझ में और प्रियदर्शना में कोई फर्क माना ही नहीं। पर मैं आपके बगैर नहीं रह सकूंगी। आपके बिना तो यह महल भी जंगल सा लगेगा।'

राजा की आँखें गीली हो गई। उन्होंने प्रीतिमति को अनुमति दी साथ आने की। दूसरी ओर राजकुमार जितसेन का राज्याभिषेक बड़ी धामधूम से सम्पन्न हुआ।

हालांकि, राजा के मन में रह-रह कर एक टीस जरूर उभर आती थी....। जिस आश्रम में वे शेष जीवन बिताना चाहते थे, उसके कुलपति मुनिश्रेष्ठ विश्वभूति का महिनों पहले स्वर्गवास हो चुका था। राजा की कल्पना में जब-जब आश्रम की सृष्टि साकार बनती है तब-तब गुरुवर्य्य की याद उनके दिल को भारी-भारी बना देती है।

बस....एक ही आश्वासन था उनके लिये और वो था परमात्मा ऋषभदेव का सुहावना मन्दिर और परम पवित्र प्रतिमा ! अनेक आत्म-साधक सन्यासी एवं सन्तजनों का सहवास ! चूंकि राजा को अधिकांश सन्यासी पहचानते थे। कुलपति विश्वभूति की असीम कृपा के पात्र बने राजा के प्रति सभी सन्यासी पुरुषों का आदर होना सहज था। राजा को इस बात की काफी खुशी भी थी।

और एक दिन रानी के साथ राजा ने आश्रम की ओर प्रयाण किया। राजा जितसेन के साथ हजारों प्रजाजनों ने राजा को आंसूभरी आंखों से विदा किया।

आश्रम में जब राजा-रानी पहुँचे तो आश्रमवासियों ने उनका मधुर स्वागत किया। उनके योग्य आवास की व्यवस्था की। रानी प्रीतिमति को भी आश्रम का वातावरण भा गया। राजा के साथ तमाम दैनिक कृत्य वो करती है। विनय, नम्रता और भावुकता के उसके गुणों ने आश्रम के वातावरण में नया रस भर दिया। भिन्न-भिन्न अनुष्ठान करते हुए, आराधना-साधना करते हुए उनका समय परमात्मा ऋषभदेव के गुणकीर्तन में मजे से बीत रहा है। पाँच महिनों का दीर्घ समय पलक झपकते ही पार हो गया।

एक दिन राजा हरिषेण की निगाहें प्रीतिमति की देह पर गिरी। वे चौंक उठे। उन्हें लगा 'प्रीतिमति गर्भवती है!' रानी से पूछा:

'यह क्या ?'

'स्वामिन् आपने जब राज्यत्याग किया उससे पूर्व मैं गर्भवती बनी थी, पर आपके त्याग मार्ग में विघ्न होने के भय से मैंने सही स्थिति आपको बतलायी नहीं। यदि मैं सही बात बता देती तो आप मुझे साथ में लाते ही नहीं।'

राजा के दिल का तो समाधान हो गया परन्तु आश्रमवासी तपस्वीयों ने इस बात को काफी गम्भीर रूप देकर बढ़ा-चढ़ा दी। प्रीतिमति और राजा के प्रति सबके दिल में नफरत के अंगारे धधक उठे।

'इस आश्रम में तो पूर्णतया संयमित जीवन जीने वाला ही रह सकता है। राजा-रानी ने इस नियम को उल्लंघने का अपराध किया है और इस तरह आश्रम के पवित्र वातावरण को दूषित किया है। उन्हें आश्रम छोड़कर चले जाना चाहिए।'

सारे तपस्वी इकट्ठे हो गये। एक तपस्वी ने ऊपर की बात रखी। दूसरे ने कहा : 'अपन राजा को निवेदन करें कि इस तरह आश्रम में रहा नहीं जा सकता।'

'तो फिर राजा गर्भवती रानी को लेकर जायेंगे कहां ?'

एक आवाज उठी।

'यह तो राजा को सोचना है कि आश्रम में ऐसे कैसे रहा जा सकता है ?'

'इससे तो बेहतर यह होगा कि अपन सभी आश्रम को छोड़ कर अन्यत्र चल दें। राजा रानी यहीं पर भले रहें।'

सारे तपस्वी इस बात पर एकमत हो गये, और एक दिन सभी ने एक साथ आश्रम का त्याग करने की घोषणा कर दी। राजा-रानी को इस बात का गहरा दुःख हुआ। राजा ने आकर सारी स्थिति सामने रखी। तपस्वीयों के पाँव पकड कर क्षमा मांगी, परन्तु वो एक न माने, सारे तपस्वी वहां से चल दिये।

राजा हरिषेण घोर उदासी में डूब गये। रानी प्रीतिमति की वेदना की तो सीमा न रही।

अब तो आश्रम में राजा और रानी दो ही थे। उनका दिल प्रतिपल अनुताप की आग में झुलस रहा था। रानी परमात्मा के चरणों में बैठकर आंसू बहाती और अपनी भूलों की क्षमा मांगती। राजा-रानी को ढाढ़स बंधाता....। दिन बीतते ही चले....चार महिने और बीत गये। एक दिन रानी प्रीतिमति ने एक सुन्दर पुत्री को जन्म दिया।

पुत्री के जन्म के पश्चात् रानी का स्वास्थ्य गिरता ही गया। राजा रानी की खूब सेवा सुश्रुषा करते हैं। साथ ही साथ पुत्री को भी

संभालते हैं। कई बार रानी प्रीतिमती का दिल भर आता, वो रो देती। अभी हरिषेण को दूसरे आघात झेलने बाकी थे। एक दिन रानी प्रीतिमती का प्राण-पंछी, देह को छोड़कर अनंत की यात्रा पर चल बसा। पिंजरा वहीं पड़ा रहा और पंछी अपने पंख फैलाये उड़ गया। राजा हरिषेण ने दिल पर पत्थर रखकर रानी के देह का अग्निसंस्कार किया। नवजात पुत्री को संभाल ली।

ऋषि के आश्रम में पुत्री का जन्म होने से उसका नाम 'ऋषिदत्ता' रखकर राजा उसे बड़े प्यार से पालते हैं। अपने जीवन में उग्र तपश्चर्या करने वाले वो राजर्षि ऋषिदत्ता को उच्च कक्षा के संस्कारों से संस्कारित करते हैं। ज्यों ज्यों ऋषिदत्ता बड़ी होती गई, उसका रूप और लावण्य निखरता गया। आठ वर्ष की हो गई ऋषिदत्ता! उसने अपने पिता की सेवा का जैसे व्रत ले लिया। जंगल के हिरन और हिरनी भी ऋषिदत्ता के आसपास घूमते थे। ऋषिदत्ता भी वन्य-पशुओं के प्रति असीम स्नेह बरसाती थी। उसकी दुनिया भी तो उनमें समायी थी।

एक दिन राजर्षि ने ऋषिदत्ता को देखा। ध्यान से देखा। उनके दिल में आशंका पैदा हुई। 'ऋषिदत्ता इतनी रूपवती है, कहीं वनवासी कभी इसका अपहरण करलें तो?' राजर्षि सोच में डूब गये। तभी उनकी स्मृति में कुलपति विश्वभूति याद आये। जब इस जिन मन्दिर के निर्माण के समय राजा विश्वभूति के पास रहे थे तब विश्व-भूति ने राजा के प्रति असीम विश्वास और अनुराग से 'विषापहार मंत्र' दिया वैसे ही अदृश्य हो जाने का एक अंजन भी बतलाया था। राजर्षि ने वह अंजन बनाने की विधि को बराबर याद करके अंजन बना भी लिया। वो अंजन ऐसा था कि जिसकी आँखों में लगाया

जाये उसे कोई देख न सके। वो सबको देख सकता है। राजर्षि समय-समय पर अंजन का प्रयोग ऋषिदत्ता पर करने लगे। फिर तो ऋषिदत्ता को ही अंजन का प्रयोग सिखला दिया। बस, अब क्या डर था। इस अंजन के सहारे ऋषिदत्ता सारे वन में यथेष्ट घूमती है। अब उसे भय न रहा। जंगल के लोग ऋषिदत्ता को देख ही नहीं पाते थे। जबकि वो तो सबको मजे से देखती रहती थी। यौवन की देहरी पर कदम रखती ऋषिदत्ता निर्भय और निश्चित बनकर पिता की सेवा में लीन रहती है।

'कुमार, वो हरिषेण राजा मैं स्वयं हूँ और यह कन्या वही ऋषिदत्ता है।'

राजर्षि श्रमित हो चुके थे। उन्होंने आंखें मूंद ली और दीवार के सहारे शरीर टिका दिया। मैंने ऋषिदत्ता की ओर निगाह डाली। मेरे मन में उसके प्रति अपार स्नेह एवं प्यार उमड़ रहा था। उसकी आंखें भी मेरे पर प्यार की वर्षा करती रही। हम दोनों कई क्षणों तक एक दूसरे को निहारते रहे। राजर्षि की अनुभवी आंखों ने हमारी प्रणय-परवश आंखों को भांप लिया। उनके चेहरे पर स्मित झलकने लगा। उन्होंने मुझ से कहा :

'कुमार, मैं तुम्हें एक भेंट देना चाहता हूँ, देखो, इन्कार मत करना।'

'आप तो मेरे पिता समान हैं पूज्यवर, आपकी हर आज्ञा मेरे लिये जीवन ध्येय होगी। आप आज्ञा कीजिये।' मैं भावविभोर हुआ जा रहा था।

'कुमार, मेरी बेटी ऋषिदत्ता को मैं तुम्हें देता हूँ, तुम उसको स्वीकार करो और मुझे मेरी जवाबदारी से मुक्त करो। पर देखना कुमार, मैंने इसको बड़े नाजों से पाला है। वैसे भी यह बड़ी कोमल और भावुक है···इसके नाजुक दिल का खयाल रखना···'

'आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।' मैंने उनके चरणों में सर रख दिया। उन्होंने मुझे सीने से लगा लिया। वे बार-बार मेरे सर को सहलाते रहे और चूमते रहे। मध्याह्न का समय हो गया था। भोजन का समय हो चुका था, परन्तु मेरा मन तो खुशियों से भर गया था। सारा अस्तित्व बस आनन्द से भर उठा हो··········।

मैंने राजर्षि एवं ऋषिदत्ता को आज मेरे साथ भोजन लेने के लिये छावनी में चलने का बहुत आग्रह किया परन्तु राजर्षि ने मेरा निमंत्रण स्वीकारा नहीं। उन्होंने कहा : 'कुमार, तुम्हारा औचित्य तुम्हारी कुलश्रेष्ठता का सूचक है, परन्तु हम आश्रमवासी हैं, हम ऋषि-मुनि को जंगल के फलों का ही आहार करना होता है। हम हमारी मर्यादा में रहें यही हमारे लिये उचित है।'

ऋषिदत्ता के चेहरे पर अपार खुशी छायी थी। शरम के मारे वो जमीन में गड़ी जा रही थी। उसके रोंये-रोंये में पुलक तैर रही थी। वो मौन बैठी थी, पर उसका मन जो बातें कर रहा था वो मेरे भीतर तक पहुँच रही थी। राजर्षि ने ऋषिदत्ता को कहा : 'बेटी, अपने भोजन की तैयारी करो!'

ऋषिदत्ता की आँखें पलभर के लिये मेरी तरफ उठी और वो चेहरे पर स्मित बिखेरती वहां से चल दी। मैं भी ऋषि की अनुज्ञा लेकर भोजन के लिये छावनी की ओर लौटा। मेरे मित्र और जो मुझे यहाँ की बातें बता रहे थे वे सभी सैनिक बड़े उत्सुक थे कि 'आखिर

क्या हुआ ?' मैं अपने आवास में पहुँचा। मैंने कहा : 'प्रथम अपन खाना खा लें, बाद में बातें करेंगे।' 'शतम् विहाय भोक्तव्यम्' सौ कार्य छोड़कर पेट की पूजा करनी चाहिए !'

मेरा दिल-खुशी के मारे झूम रहा था। भूख तो लगी थी पर तन मन की अपार प्रसन्नता के आगे भूख का दुःख कहां टिकता है ! हम मित्रों ने साथ बैठकर आनन्द से भोजन किया। साथ ही मैंने ऋषि के आश्रम में बनी सारी घटना उन्हें बतलायी। सभी मन्त्रमुग्ध बनकर सुन रहे थे। बातें सुनकर सब के चेहरे पर प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। ऋषिदत्ता के साथ शादी करने के मेरे निर्णय का सब ने स्वागत किया। मित्रों ने कहा : कनक ! शुभ मुहूर्त में शादी कर ही लें ! पिताजी ने राजपुरोहित को साथ ही भेजा था। हमने उन्हें बुलवाया। राजपुरोहित ने आकर प्रणाम किया और बुलाने का प्रयोजन पूछा। मित्रों ने सारी बात बतलायी।

राजपुरोहित ने बात सुनी, आँखें मूंद कर वे ध्यान में डूब गये। कुछ पलों के पश्चात् आँखें खोलकर उन्होंने मेरे सामने देखा और कहा : 'कुमार, कुछ दिन यहाँ रुकना होगा, चूंकि पांच दिन पश्चात् अच्छा मुहूर्त आता है।'

हमने वहीं रुकने का निश्चय किया। समीप के नगर में से आवश्यक खाद्य-सामग्री मंगवा ली। सैन्य में भी सूचना करवा दी कि : 'इस प्रदेश में कुछ दिन ज्यादा रुकना है।' हालांकि छावनी में तो सब को मालुम हो ही गया था कि राजर्षि हरिषेण की पुत्री ऋषिदत्ता के साथ मेरी शादी होने वाली है। आश्रम में सबका आना-जाना चालू हो गया था। परमात्मा ऋषभदेव के जिनालय में सभी दर्शन करने के

लिये सुबह-शाम जाते और साथ ही महर्षि के चरणों में वंदना भी कर आते। सब ने ऋषिदत्ता को निहारा था। काफी प्रसन्न थे सभी.....। 'कितना प्यारा रूप दिया भगवान ने! कुमार सचमुच खुशनसीब है! इतनी मासूमियत और इतना अनिंद्य सौन्दर्य तो कहीं नहीं देखा!'

छावनी में ऐसी बातें चलती रहती थी। मेरे कानों पर जब बातें आती तो मेरा मन हर्षविभोर बन जाता। मैं प्रतिदिन परमात्मा का पूजन करता था। राजर्षि के चरणों में बैठकर उनके मुंह से धर्म की बातें सुनता। कितनी विशद प्रज्ञा थी राजर्षि की! ऋषिदत्ता की जिन्दगी में यह सब नया-नया था। इतने सारे मानवों को एक साथ रहते वो पहली बार देख रही थी। काफी कौतूहल था उसकी हर निगाह में! उसके चेहरे पर आश्चर्य और अद्‌भूतता के भाव झलक आते थे।

शादी का दिन आ गया। राजपुरुषों ने सारे आश्रम को सजाया था। जिनालय को भी सजा लिया था। रुक्मिणी के लिये जो अलंकार, वस्त्र वगैरह लाये थे उनसे ऋषिदत्ता को सजाया गया। ऋषिदत्ता का शृंगार तो मैंने ही अपने हाथों किया था। वहां और कौन उसको सजाने वाला था?

राजपुरोहित ने शादी के विधि-विधानों की सम्पूर्ण तैयारियाँ कर ली थी। मंगलवाद्यों के सूर वनप्रदेश को गुंजित करते थे। अनेक वन्य-पशु दौड़-दौड़ कर वहां आ गये थे। राजर्षि हरिषेण के चेहरे पर स्वस्थता थी—गंभीरता थी। शुभ लग्न समय में हमारा हस्तमिलन हुआ। मैं ऋषिदत्ता के साथ विवाह सूत्र में बंध गया। विधिवत् मैंने

ऋषिदत्ता को पत्नि के रूप में स्वीकार किया। राजर्षि ने हम दोनों को अंतर की आशीष दी।

लग्नविधि सम्पूर्ण होने पर राजर्षि उनके निवास स्थान पर गये और हमें भी अपने पीछे आने का इशारा करते गये। हम दोनों उनके पीछे-पीछे, उनके आवास पर गये। विनय-पूर्वक उनके चरणों में बैठे। कुछ पल तक आँखें मूँदकर वे मौन बैठे रहे, फिर उन्होंने मेरी ओर देखा। वो मुझे कुछ कहना चाहते थे। मैंने वातावरण की खामोशी को चीरा: 'पितातुल्य महर्षि! जरा भी संकोच रखे बिना आप मुझ से जो कहना है, वो कहिये!'

'कुमार ऋषिदत्ता को मैंने तुम्हारे हाथों में सौंपा है, अब तुम यहां से जाने की भी सोचोगे। पर मैं चाहता हूं कि तुम कुछ समय और यहां पर रहो....!' राजर्षि के स्वर में आर्द्रता बरस रही थी। उनकी आँखों में आंसू आ बसे थे। उनकी आर्द्र आँखें ऋषिदत्ता को देख रही थी। ऋषिदत्ता की पलकें भी चू रही थी।

बीस-बीस साल तक सतत जिस वत्सल पिता की गोद में वो बड़ी हुई थी, उस ऋषिदत्ता को 'अब एक अनजान पुरुष के साथ... अनजान नगर और अजनबियों के बीच जाना होगा! न जाने पिता से कब मिलना हो! पिता की सेवा-सुश्रूषा इस जंगल में कौन करेगा? उनकी वृद्धावस्था और नितान्त अकेलापन उनके दिल को दहला देगा....!' यह विचार आना सहज था। अपनी इकलौती पुत्री, कि जिसको कितने प्यार-दुलार से बड़ी की, वो अब दूर चली जायेगी! अपने हृदय के टुकड़े सी पुत्री को अब न जाने कब वापस देखना हो!' यह कल्पना प्रेमभरे पिता के प्राण को पीड़ित करे यह भी सहज था।

फिर भी मिला तो एक ऋषि थे....तत्वज्ञानी थे....वो तो अपने मन का समाधान कर सकते थे, परन्तु लड़की का क्या ? वो तो निरी मुग्धा थी ! पिता का प्रेम ही उसका सर्वस्व था। पितृ-वियोग की कल्पना उसके नाजुक हृदय पर कोई आघात....' मै सिहर उठा। मैंने राजर्षि को कहा :

'पूज्यपाद, आप चाहेंगे तब तक मैं यहीं रहूँगा। बड़ी प्रसन्नता के साथ रहूँगा। मुझे यहां का वातावरण पसन्द है ? यह भव्य जिन-प्रासाद ! यह सुन्दर आश्रम ! ये निर्दोष मृग छौने ! मुझे यह सब बहुत प्यारे लगते हैं। आप कहेंगे तब तक में यही रुकुंगा।'

मेरी बात सुनकर राजर्षि गद्‌गद् हो उठे। उन्होंने मुझे अपने सीने से लगा लिया। बार बार वे मेरे सर पर हाथ फेरने लगे। मेरी आंखें भी छलक रही थी। राजर्षि के वात्सल्य से मेरा मन भर आया था।

मैं खड़ा हुआ, ऋषिदत्ता भी खड़ी हुई। मैंने इशारे से उसे समझा दिया कि वो वही राजर्षि के पास बैठे। वो बैठ गयी। मैंने आवास के बाहर आकर उद्यान में आनन्द से घूमते मेरे मित्रों को बुलाया और उनसे कहा : 'मित्रों, मुझे कुछ समय और यहां रुकना होगा। राजर्षि की इच्छा है इसलिये, यदि तुम्हें अपने-अपने नगर लौटना हो तो खुशी से जाओ।'

'क्या अब अपन कावेरी नहीं जायेंगे ? रुक्मिणी के साथ शादी नहीं रचायेंगे ?' एक मित्र ने पूछा। सच कहूँ तो मैंने इस बात पर सोचा भी न था ! ऋषिदत्ता को जब से देखा तब से आज तक मैंने

रुक्मणी के बारे में सोचा भी नहीं। मित्र का प्रश्न सुनकर मैं सकपका गया! परन्तु तुरन्त मैंने निर्णयात्मक जवाब देते हुए कहा :

'नहीं, अब कावेरी नहीं जाना है, रुक्मिणी के साथ शादी भी नहीं करना है....यहीं से वापस लौटना है।'

'ऐसे तो महाराजा हेमरथ नाराज हो जायेंगे!' मित्र ने भयस्थान चींधा। मेरी कल्पना में पिताजी आ गये। मेरे मन में हुआ कि पिताजी नाराज नहीं होंगे। मैंने मित्रों से कहा :

'पिताजी भला क्यों नाराज होंगे? मैं उन्हें समझाऊँगा।'

'फिर उस रुक्मिणी का क्या?' दूसरे मित्र ने कहा।

'वो उसकी इच्छानुसार करे....पर मैं अब दूसरी शादी नहीं करूँगा।' मैंने अपना निर्णय सुना दिया। ऋषिदत्ता के सिवा किसी अन्य स्त्री को अब जीवनसंगिनी के रूप में मैं नहीं चाहता था।

'तो फिर यहां कितना रुकना होगा?'

'कुछ कहा नहीं जा सकता। जब राजर्षि अनुज्ञा दे तभी लौटना होगा।' मेरे मित्र राजकुमारों ने विचार विमर्श किया और मुझ से कहा :

'मित्र, तू सुख से यहां रह। तेरा यहां रहना उचित भी है। यदि हमारा यहां कोई प्रयोजन न हो तो हम अपने अपने राज्य में चले जांय।'

मैंने उन्हें प्रसन्न मन से विदा दी। उन्होंने राजर्षि के चरणों में प्रणाम किया और वहां से चल दिये। मैंने सैन्य के पड़ाव को सुव्यवस्थित कर दिया। मैंने मेरा निवासस्थान आश्रम में ही बदल दिया, ताकि मैं राजर्षि के ज्यादा निकट बना रहूं और ऋषिदत्ता भी पितृसान्निध्य पा सके।

आश्रम में मेरा दैनिक नित्यक्रम व्यवस्थित जम गया। ऋषि-दत्ता तो मुझे अपना देव समझकर मेरी सेवा करने लगी। नम्रता, विनय और सौजन्य की साक्षात् मूर्ति थी वो लड़की! बोलने का तो कितना कम....और स्नेह का पार नहीं! हम दोनों प्रतिदिन शाम को समीप के वन-प्रदेश में घूमने के लिए जाया करते थे। एक दिन बात ही बात में ऋषिदत्ता ने मुझ से पूछा :

'स्वामिन्! क्या आपकी माँ हैं?'

'हाँ, खूब प्यार भरी माँ है! तुझे जरूर पसन्द आयेगा और माँ तो तुझ को अपने कलेजे का टुकड़ा बना लेगी।'

मेरी बात सुनकर वो गहरे विचारों में खो गयी। मुझे याद आयी ऋषि की बात : 'कुमार, रानी प्रीतीमती ने पुत्री के जन्म के पश्चात् तुरन्त अपनी जीवनयात्रा समाप्त कर ली।' ऋषिदत्ता ने मां को देखा ही न था! मां का सुख उसने पाया ही नहीं था। मैंने उसे कहा :

'मेरी माँ तो परमात्मा की अनन्य आराधिका है! ऋषिमुनि एवं साधुपुरुषों के प्रति वो अपार आदरशील है। अत्यन्त धार्मिक मनो-वृत्तियाँ हैं उसकी। मेरे पर तो उसकी गाढ़ ममता है....।'

'तो तो मुझे बड़ी अच्छी लगेगी आपकी मां !' उसने विश्वस्त आंखों से मेरे सामने देखा ! मैंने उसकी नन्ही नन्ही सीप सी आंखों में सन्तुष्टि की उष्मा पायी।

'और एक बात पूछुं ?'

'खुशी के साथ !'

'आप नाराज तो नहीं होंगे न ?'

'कैसी बातें करती हो ! क्या मैं तुम पर नाराज होऊंगा ? तुम ऐसा सोचती भी क्यों हो ? नहीं....कभी नहीं....ऋषिदत्ता, तुम्हें मालूम नहीं मेरे भीतर तुम्हारा कितना स्थान है। पूछो तुम्हें जो भी पूछना हो बेझिझक....बिना शरमाये और बिना किसी हिचकिचाहट के।' उसने मेरी आंखों से झांका और कहा :

'आपके परिवार में मांसाहार तो नहीं होता है न ?'

'ओफ्फोह, 'खोदा पहाड़ तो निकली चुहिया' मैंने तो सोचा न जाने क्या पूछोगी तुम। नहीं ऋषिदत्ता, हमारे राजपरिवार में मांसाहार नहीं होता है। हालांकि कई राजपरिवारों में मांसाहार सहज होता है परन्तु वैसे हम भी परमात्मा ऋषभदेव के धर्म को ही अपनाये हैं और फिर अहिंसा तो हमारे राजपरिवार की संस्कृति का मूलमंत्र है।'

'वाह ! कितना सुन्दर !' उसके चेहरे पर स्मित के गुलाब खिल पाये....वो बोल उठी :

'तुम कितने अच्छे हो। मुझे बहुत पसंन्द हो। तुम्हें पाकर मैं बड़ी खुश हूँ।' उसने मेरी हथेली को अपनी हथेलियों के बीच दबायी। जैसे कि उसका मनचाहा सब कुछ उसे मिल गया।

'पर ऋषि, तुम्हें महल में रहना पसन्द तो आयेगा न ?' मैंने उसकी आंखों के अतल की थाह लेते हुए पूछा।

'क्यों नहीं ? जहां तुम रहोगे वहां मुझे सब कुछ पसन्द आ जायेगा। मुझे तुम से दूर मत करना....।' उसने मेरे हाथ पर अपना मुंह टिकाया।

'तुम्हे मेरे पास ही रखुंगा...अपना महल बहुत सुन्दर है फिर भी अगर तुझे महल पसन्द नहीं आयेगा तो ऐसा सुन्दर आश्रम वहां पर सजा लेंगे।'

'तुम महलों में पले हो....तुम्हें आश्रम नहीं भायेगा। पर मुझे महल में सब अनुकूल रहेगा पर....।'

'पर क्या ?'

'मेरी एक बात मानोगे ?'

'एक नहीं सब की सब।'

'अपना यहां से चले तब मेरी यह हिरन-हिरनी की जोड़ी साथ ले चलेंगे न ?'

'वाह क्या कहना। बहुत खूब। कितने प्यारे हैं ये दोनों मृग छौने। निरा भोलपन और बड़ी मासूमियत तैर रही है इनके चेहरे

र। अपन अवश्य इन्हें अपने साथ ले चलेंगे।' 'यदि अपन इन्हें साथ ले जायें तो...' बोलते बोलते ऋषिदत्ता की आंखें छलक आयी। सने मेरे सीने में मुंह दबाया। 'ये जीयेंगे नहीं। इन्हें मुझ से काफी गाव है।' मैं जानता हूँ ऋषि, तेरा इनके साथ का प्यार। और मियों का विछोह करवाने का पाप मैं क्यों करूंगा?' मैंने हंस या ...। ऋषिदत्ता ने मेरे हाथ को सहलाते हुए कहा : 'कुमार तुम कतने अच्छे हो।'

'और तू ?'

उसने मेरे मुंह पर अपनी कोमल हथेली ढांप दी। अंधेरा तरने लगा था। मंदिर में आरती का समय हो चुका था। हम आश्रम की ओर चले। आश्रम के द्वार पर ही राजर्षि हमारी प्रतीक्षा में खड़े । हम पहुँचे तो हमारे साथ वे भी मन्दिर में आये। ऋषिदत्ता ने त्य मुजब आरती सजायी और दिये जलाकर राजर्षि को आरती मायी। मैंने शंखनाद करना प्रारम्भ किया। मन्दिर का कण-कण ऋषिदत्ता के मधुर स्वर से आंदोलित हो उठा।

परमात्मा ऋषभदेव की नयनरम्य मूर्ति आज मुझे बड़ी प्यारी ग रही थी...। मैंने मन भर कर परमात्मा को निहारा।

६.

ऋषिदत्ता के शादी हुए एक माह बीत चुका था। आश्रम का वातावरण मेरे मन को काफी पसंद आ गया था। ऋषिदत्ता तो रात और दिन मेरे पास ही रहती थी। राजर्षि हरिषेण का प्यारभरा सांनिध्य था। हवामान भी बड़ा सुहावना था। निसर्ग की सुन्दरता से आश्रम का कोना-कोना सजा हुआ था। वृक्षों की झूलती डालियाँ, क्रीड़ा करते हुए भोले भाले मृग छौने, आकाश की अटारी पर मुक्त मन से उड़ते रंग-बिरंगे पंछी, कल-कल निनाद करते झरने, मुक्त मन और मुक्त गगन....मुक्त श्वास और मुक्त आकाश! 'स्वर्गीय सुख इससे बेहतरीन नहीं होंगे', ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास बन गया।

पर मन में यदि कुछ वेदना थी तो वो एक ही बात की थी, यदि कुछ कसक-सी उठती थी तो एक ही बात की थी, राजर्षि हरिषेण के चेहरे पर की उदासी दिन-ब-दिन गाढ़ बनती जा रही थी। वे अपना ज्यादा समय परमात्मा की स्तवना एवं परमात्मा के जाप-ध्यान में ही बिताते थे। मेरे और ऋषिदत्ता के साथ काम जितनी ही बात करते थे। हालाँकि उनकी आँखों में हम दोनों के प्रति अपार स्नेह छलकता था। मैं समझ रहा था कि राजर्षि अपने मन को विरक्त बनाने की

कोशिश कर रहे हैं। ऋषिदत्ता के साथ जुड़ी हुई ममता को वे तोड़ना चाहते हों, ऐसा मुझे प्रतीत हो रहा था। उनके मन में 'पुत्री राजकुमार की हो चुकी है, वो यहां पर कायम तो रहेगी नहीं....अब मुझे उन्हें बिदा देनी चाहिए, पर ऋषिदत्ता के बिना यह आश्रम.... ।' बस, यही विचार घूमता होना चाहिए। चाहे क्यों न वे ऋषि बन गये हो.... संन्यासी का जीवन उन्होंने स्वीकारा हो, पर आखिर वो एक भावुक पिता भी तो थे न? और फिर, आश्रम में भी उन्हें एक प्यार भरे पिता का जीवन जीना पड़ा.... ममतामयी माँ का जीवन जीना पड़ा। बरसों तक ऋषिदत्ता को उन्होंने प्यार, स्नेह एवं वत्सलता का दान दिया था। इसलिये एक ऋषि के जीवन में जो साहजिक उदासी विरक्ति एवं अलिप्तता होनी चाहिए, वो नहीं पा सके थे। बरसों की ममता का बंधन, प्यार का वो लगाव, आज उन्हें उद्वेलित कर रहा था। हालांकि वो अपने मन की बात हमें करते नहीं थे, परन्तु उनकी आँखों में हमें बहुत कुछ देखने को मिलता था। उनके व्यवहार से हम उनकी आंतरस्थिति का अनुमान लगा सकते थे।

एक दिन मध्याह्न का भोजन करके मैं आश्रम के एक अशोक वृक्ष की छाया में घास की चटाई पर लेटा था, समीप के झरने के किनारे ऋषिदत्ता हिरन-हिरनी के साथ खेल रही थी, राजर्षि धीरे-धीरे कदम रखते हुए वहां पर चले आये। मैं खड़ा हो गया। ऋषिदत्ता भी आ गयी पिताजी को देखकर। राजर्षि चटाई पर बैठे मैं और ऋषिदत्ता उनके समीप में बैठ गये। हिरन-हिरनी भी हमारे आस-पास आकर खेलने लगे।

राजर्षि ने मेरे हाथों को अपनी हथेलियों में बांधते हुए मेरी आँखों में झांका। मैं अनुमान कर चुका था कि राजर्षि आज कुछ कहने

के लिये ही आये हैं और उन्होंने कहा : 'कुमार, तुम सुविनीत हो, मेरी अंतर की इच्छा को तुम साकार कर रहे हो.... राजमहल की सुखशीलता छोड़कर इस धूल और कंकर से भरे आश्रम में तुम मेरे लिये ही रहे हो... तुम्हारा बहुत बड़ा एहसान....'

मैंने उनके होठों पर हाथ रख दिया और कहा : 'यह आप क्या बोल रहे हैं ? ऐसा मत कहिये, मुझे यहां कितनी प्रसन्नता है.... राजमहल तो मुझे याद भी नहीं आता, आपकी छाया में मैं तो राजमहल से भी ज्यादा आनंदित हूँ....।'

राजर्षि की आँखे भर आयी। वो भर्रायी आवाज में बोले : कुमार, सचमुच ऋषिदत्ता बड़ी पुण्यशालिनी है, जो तुम उसे मिल गये जंगल में जन्मी....जंगल के वातारण में पली इस कन्या का स्वीकार करके इसको तो उपकृत किया ही है, मुझे भी बड़ा संतोष दिया है। मुझे चिन्ता से मुक्त किया है। उनकी आँखों से आँसू सरकने लगे। मैंने मेरे उत्तरीय से उनकी आँखे पोंछी। वो मेरे हाथ को सहलाते हुए बोले :

'कुमार, तुम तो गुणी हो ही, इसलिये ऋषिदत्ता के लिये तुम्हें कुछ कहने की जरूरत भी नहीं है। फिर भी पिता का हृदय है ना ? दो बातें कहे देता हूँ। मैंने कभी मेरी इस पुत्री को धिक्कारा नहीं, न कभी इसको अपमानित किया...अपमान और धिक्कार क्या चीज होती है वो भी इसे मालूम नहीं होगा। तुम कभी इसके दिल को टीस मत पहुँचाना इसके नाजुक मन को पीड़ा मत देना। हालांकि राजमहल की पुत्रवधु में जो दक्षता या कार्यकुशलता चाहिए वो इसमें नहीं है। कला और गृहिणी के किसी भी कार्य में यह निष्णात नहीं है।

फिर भी तुमने इसका स्वीकार किया है। इसको तुम बहुत सम्भालना। इसका ध्यान रखना।'

वयोवृद्ध, अतिकृशकाय राजर्षि फूट फूट कर रोने लगे। मैं और ऋषिदत्ता, अपने आपको न बांध सके। हिरन-हिरनी ऋषिदत्ता के मुँह से मुँह सटाये खड़े रह गये। पेड़ पर किलकारियाँ करते पक्षी मौन हो गये। सारा वातावरण खामोशी के आवरण में सिमट गया। टूटती आवाज में राजर्षि बोले :

कुमार....तुम्हारे सहवास से...वो अवश्य कला-सम्पन्न होगी, दक्ष बनेगी। वो सुशीला है....सुविनीता है...वो तुम्हे देव मानकर पूजेगी। तुम्हारी हर आज्ञा का यथार्थपालन करेगी। फिर भी वो वन की भोली हिरनी सी है...कभी उसकी भूल या क्षति हो जाये तो उसे क्षमा कर देना।' वो थक गये थे। इतना बोलकर वे मौन रह गये। मेरा हृदय भर आया था। बड़ी मुश्किल से मैं बोल पाया। मैंने कहा :

'पूज्यवर, यह सारी बातें आप अभी क्यों कर रहे हो? हम यहीं हैं न! आपके पास ही हैं।'

नहीं, नहीं कुमार, अब तुम्हें ऋषिदत्ता को लेकर रथमर्दन नगर की ओर प्रयाण करना चाहिए। अब मेरे लिये तुम्हें यहां रुकना नहीं है....मैं भी मेरा रास्ता लूंगा।'

मैं पलभर के लिये उलझ गया....। मैंने ऋषिदत्ता की ओर देखा। वो भी परेशान हो उठी थी। समझ में नहीं आ रहा था कि 'मैं भी मेरा रास्ता लूंगा,' कहकर राजर्षि किस बात का इशारा कर रहे थे। मैंने कहा :

'आप कहां जायेंगे ? इस अवस्था में आपको स्थानांतर करना नहीं चाहिए। अच्छा हो यदि आप हमारे साथ रथमर्दन पधारें। वहां उद्यान में आपके लिये कुटीर बनवा देंगे। आपकी इच्छा होगी तो नया जिनमंदिर भी बंधवायेंगे।

कुमार, अब मुझे किसके लिये जीना है ? मैं तो इतना भी इसके लिये [ऋषिदत्ता की ओर इशारा करके] जीया हूँ। अब इसको तुम्हें सौंप दिया। अब मेरे जीने का कोई मतलब नहीं है'

'यानी ?'

'अब मैं अग्निप्रवेश करना चाहता हूँ।'

'नहीं....' मैं और ऋषिदत्ता चीख उठे।

'मेरे जैसे के लिये तो जीने के बजाय मरना ही बेहत्तर है...!'

'नहीं, नहीं. ऐसा नहीं हो सकता...' ऋषिदत्ता सुबकती पिता की गोद में जा गिरी....। उसकी आंखों से बरबस आंसू बहे जा रहे थे वो चीख उठी :

'मेरे पर तो आपको प्यार है न ? मेरे लिये भी आप ऐसा मत सोचो, मुझे इस तरह ठुकरा कर मत जाओ !'

'ऐसा नहीं बोलते बेटी मेरी बात सुन, पूज्यों की सेवा करना, बड़ों का सम्मान करना, शील का पालन करना, सुख-दुःख की कल्पनाओं में पापाचरण मत करना ! धर्मनिष्ठ बने रहना !'

राजर्षि का निर्णय सुनकर मैं तो स्तब्ध हो गया था। मैं उनके चरणों में गिर गया 'पूज्य, प्राणत्याग की तो बात भी मत करना। मैं आपको किसी भी हालात में प्राणत्याग नहीं करने दूंगा।'

राजर्षि ने मुझे उठाते हुए कहा: 'कुमार, तुम मेरे शरीर की ओर तो देखो! इस देह में अब रखा भी क्या है? और अब मुझे जीना भी किस के लिये है? मैं मेरे स्वार्थ से तुम्हें इस जंगल में जकड़े रखना नहीं चाहता।'

'पर आत्मघात तो कैसे उचित होगा?'

'मेरे लिये अन्य कोई रास्ता नहीं है कुमार, मुझे असमाधि होनें की नहीं, मैंने देह और आत्मा का भेद-ज्ञान दृढ किया है। आत्मा की अजर-अमर स्थिति की मुझे प्रतीति हो चुकी है।'

'नहीं पिताजी नहीं....मैं आपको अग्निप्रवेश नहीं करने दूंगी! मेरे पर तो दया करो....।' दहाड़ मार कर रोती हुई ऋषिदत्ता राजर्षि को लिपट गयी।

मैंने आंखे घुमाकर पीछे देखा तो एक घास की झोंपडी में आग लगी थी। उस झोंपडी में आश्रम की लकड़ियाँ भरी हुई थी। आग की ज्वालाएं उपर उठने लगी थी। मुझे लगा कि यहां आने से पूर्व राजर्षि ने ही झोंपड़ी में आग लगायी होनी चाहिए। मैं उस ओर देखता था....इतने में राजर्षि ने मुझसे कहा :

'कुमार, ऋषिदत्ता को संभालो, वो कोई दुःसाहस न कर बैठे।'

फूट फूट कर रोती ऋषिदत्ता को मैंने मेरे उत्संग में ले लिया। राजर्षि खड़े हुए। दो हाथ जोड़कर, आकाश की ओर देखते हुए पंच परमेष्ठि भगवंतों को धीर-गम्भीर स्वर में नमन किया। आंखे बंद कर और जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाते हुए उस धधकती आग में कूद पड़े!

ऋषिदत्ता बेहोश हो गयी थी। मैंने उसको छाया में सुलाया, और हमारे आवास में जाकर पानी ले आया। मैंने ऋषिदत्ता के ऊपर ठंडे पानी की बौछार चालू की। हिरनी भी ऋषिदत्ता के मुंह को चाटने लगी।....उत्तरीय वस्त्र से मैं हवा डालने लगा। कुछ देर बाद उसने आंखे खोली और 'पिताजी,........आप अग्नि प्रवेश मत करो.... मत करो...' चीखती हुई खड़ी हुई और आग की तरफ भागने लगी मैंने उसको पकड़े रखा। उसके करुण रुदन से मैं भी रो पड़ा। मेरी गोद में उसका सर लेकर सहलाने लगा। वो रोती रोती बोल रही थी।

'पिताजी, यह आपने क्या किया? अब तो मैं अनाथ हो गयी.... मां की तो सूरत भी मुझे याद नहीं....आप ही मेरी माता थे....मेरा सर्वस्व थे। यह आपने क्या किया?'

मैं ऋषिदत्ता को उठाकर हमारी कुटीर में ले आया। उसके अस्तव्यस्त हुए बालों को ठीक किया। पानी से उसका मुंह धो दिया और कोमल शय्या में सुलाकर मैं उसके पास बैठ गया। मुझे लगा कि 'अभी मुझे इसके कोमल दिल को खूब सांत्वना देनी चाहिए। इसके घायल हृदय को सहलाना चाहिए....।' अनचाही दुःखद घटना कितनी यकायक बन चुकी थी?

आश्रम में अग्नि की ज्वालाओं को दूर से देखकर मेरे सैनिक भी आश्रम में दौड़ आये थे। मुझे और ऋषिदत्ता को रोते बिलखते

देखकर उन्हें किसी अनिष्ट की आशंका तो हो ही गई थी। सेनापति ने मेरे पास आकर मेरे कान में कुछ पूछा भी सही। मैंने सेनापति को सारी घटना संक्षेप में कह दी। सेनापति की आँखें भी गीली हो गयी। पत्थर दिल सैनिकों ने भी जब राजर्षि के अग्निप्रवेश की बात जानी तो वो भी रो दिये।

मुझे लगा यि 'ऋषिदत्ता के लिये यह वातावरण अति दुःखद बना है।' मैंने सैनिकों को छावनी में भेज दिया। मैंने मेरा तमाम ध्यान ऋषिदत्ता की ओर केन्द्रित किया।

'देवी, अब तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए। तुम्हारे पिताजी ने पूर्वावस्था राजा के रूप में बितायी थी और उत्तरावस्था व्रतधारी ऋषि के रूप में बितायी, उन्होंने तो अपना आत्मकल्याण कर लिया है, उनके पीछे कल्पांत नहीं करना चाहिए।' मैंने ऋषिदत्ता के माथे पर मेरा हाथ रखा। उसकी सिसकियाँ कम होने लगी। उसकी आंखे सूज गयी थी। चेहरा म्लान बन चुका था। गहरी उदासी और बेपनाह विवशता से वो टूट चूकी थी।

धीमे धीमे उसने मेरे सामने....मेरी आंखों से आंखें मिलायी। मैंने कहा:

'ऋषि, क्या तुम्हें मुझ पर भी विश्वास नहीं है ? क्या मैं तुम्हें नहीं चाहता हूं ?' मेरा प्रत्येक शब्द स्नेहार्द्र था। उसने मेरा हाथ पकड़ लिया और सर हिला कर हां भरी....उसके होठ खुश्क बन गये थे। मैंने पानी का प्याला दिया। वो उठी और अपने हाथों से प्याला मेरे होठों से लगाया। मैंने दो घूंट पीया, बाद में उसने पानी पीया। पानी

पीकर उसने मेरी गोद में सर रख दिया। मैं उसके सर को सहलाता रहा।

दूसरे दिन हमने राजर्षि की उत्तर क्रिया की। जहां पर उन्हों ने देहोत्सर्ग किया था वहां पर एक स्तूप बनाने की आज्ञा मैंने सेनापति को दे दी। सेनापति ने तुरंत मेरी आज्ञा का पालन करते हुए स्तूप-निर्माण का कार्य प्रारंभ कर दिया।

मैं ऋषिदत्ता को लेकर परमात्मा ऋषभदेव के मन्दिर में गया। परमात्मा के दर्शन करते ही ऋषिदत्ता की आंखें डबडबा गयी। उसके जीवन में यह पहला अवसर था, जबकि राजर्षि पिता के बिना मन्दिर में वो आयी हो। बरसों से वो पिता के साथ ही परमात्मा के दर्शन-पूजन स्तवन किया करती थी। मन्दिर के कण कण में राजर्षि की स्मृतियां बिखरी हुई थीं। ऋषिदत्ता अवश बनती जा रही थी। मैंने उससे कहा :

'देवी! प्रभु कैसे निर्विकार हैं! वीतराग हैं! अपन को भी ऐसा ही निर्विकारी बनना है। रागरहित - द्वेषरहित - ममतारहित बनना है....अपन प्रभु को प्रार्थना करें कि वो अपन को ऐसा बनायें।'

मैंने मधुर-मंजुल स्वरों में प्रार्थना प्रारंभ की, ऋषिदत्ता की वेदनामिश्रित आवाज मेरे सुरों में आ मिली। जी भर परमात्मा की प्रार्थना-स्तवना की। प्रार्थना करके हम बाहर आये। हिरन और हिरनी तैयार ही बैठे थे। ऋषिदत्ता के साथ खेलने लग गये।

'स्वामिन् अपन इस जोड़े को साथ ले चलेंगे न?' 'अवश्य, तेरे बिना ये बेचारे यहां रहेंगे भी कैसे? अपन साथ ही ले चलेंगे इन्हें।'

ऋषिदत्ता के चेहरे पर प्रसन्नता की झलक छाने लगी। मेरा मन भी प्रसन्न बना। आवास में आकर उसने मेरे लिए दूध और फल तैयार किये। मुझे खयाल था ही कि आज वो खुद खाने के लिये इन्कार करेगी। उसने आनाकानी की तो मैंने कह दिया: 'यदि तू उपवास करेगी तो मैं भी खाना नहीं खाऊंगा। जो भी करना है अपन को साथ ही करना है!' उसने अपना आग्रह छोड़ दिया। मुझे भोजन करवा कर उसने भोजन किया। भोजन के बाद मैंने कहा:

ऋषि, अब तेरी इच्छा हो तो अपन अपने नगर की ओर प्रयाण करें।'

उसने कहा : अब अपन जल्दी ही यहां से चले चलें....अब तो यहां मन बिल्कुल नहीं लगता है। पिताजी के बिना सारा आश्रम सूना सूनालगता है....एक एक पेड़-पौधे में उनकी याद बिखरी है।'

मैंने सैनापति को बुलाकर रथमर्दन नगर की ओर जाने की तैयारियां करने का आदेश दिया।

ऋषिदत्ता ने क्यों ही रथ में पैर रखा, वो सिसक उठी। अगर मैंने उसे थाम लिया न होता तो वो गिर जाती। वो अपनी प्रिय भूमि को छोड़कर अनजान और अजनबी दुनिया में जो आ रही थी ! उसकी प्रसन्नता के लिये मैंने हिरन और हिरनी के जोड़े को साथ ही लिया था।

मैंने उसे बहुत सांत्वना दी। मेरे उत्तरीय वस्त्र के छोर से उसके आँसू पोंछ डाले। वो कुछ स्वस्थ हुई और हमने हमारा प्रयाण चालू कर दिया। मेरे हृदय में ऋषिदत्ता के लिये जैसे गाढ़ प्यार था वैसे करूणा भी थी। चूंकि राजर्षि ने मुझे ऋषि के लिये काफी हिदायतें दे रखी थी। हालाँकि ऋषिदत्ता का व्यक्तित्व ही इतना मोहक था कि कभी मुझे इससे नाराजी या नफरत हो, इसकी कल्पना भी मैं नहीं कर पाता था।

रास्ते में हम जहां जहां रुकते थे, पड़ाव डालते थे, वहां वहां ऋषिदत्ता अपने साथ लिये हुए कुछ फलों के बीज बो देती थी। मैंने आश्रम में भी ऋषि को वृक्षारोपण करते हुए कई बार देखा था। मैंने

एक बार पूछा भी था : 'ये कौन से फल हैं ?' उसने कहा 'ये सदाबहार वृक्ष के फल हैं ! और मुझे बहुत पसन्द हैं !' वो जिस तन्मयता से वृक्षारोपण करती थी....मैं उसे टकटकी बांध देखता ही रहता था। मुझे काफी प्रसन्नता मिलती थी। मैंने चुटकी ली भी सही : 'ऋषि, राजमहल में तो ऐसा वृक्षारोपण होगा भी नहीं !' उसने हंसकर कहा था 'इसलिए तो कह रही हूँ कि मुझे रास्ते में जी भर कर वृक्षारोपण कर लेने दो !' और उसकी निर्दोष आँखों की चमक ने मेरे अस्तित्व को आनन्द से भर दिया। वैसे भी वो मृगनयना थी। हिरनी की आँख सी उसकी छोटी छोटी आँखें काफी मासूमियत भरी लगती थी। उसकी आँखों में सचमुच एक तरह का खिंचाव था, आकर्षण था।

ज्यों ज्यों रथमर्दनपुर नजदीक आता था त्यों त्यों मेरे मनो-मस्तिष्क पर माता-पिता के विचार छाये जा रहे थे। 'क्या माँ नाराज तो नहीं होगी ? क्या पिताजी गुस्सा तो नहीं करेंगे ? कावेरी न जाने का निर्णय मेरा अपना ही था। ऋषिदत्ता के साथ शादी भी मैंने केवल मेरी इच्छा से हो की थी। मेरे जीवन में इस तरह माता पिता की इजाजत के बगैर मैंने महत्व के निर्णय कर डाले थे। मेरी आज्ञांकितता मुझे बेचैन बना रही थी। माता-पिता की नाराजी मेरे जैसे आज्ञांकित राजकुमार के भावुक दिल के लिये चोट देने वाली हुई थी। और तो कोई चिन्ता मुझे थी ही नहीं...., पर यदि पिताजी ने आज्ञा कर दी कि :

'मुझे ऐसी जंगल की ऋषिकन्या पुत्रवधु के रूप में नहीं चाहिए....' तो क्या होगा ? पलभर के लिये मेरा मन सिसक उठा। मैंने ऋषिदत्ता की ओर पलकें उठायी पर वो तो नैसर्गिक सौन्दर्य की अछूती तस्वीर को निहारने में मुग्ध बन गयी थी। मैंने अपनी आँखें

मून्द ली। एक विचार कौंध उठा मेरे दिमाग में, मैं माँ के चरणों मे सर रखकर, पिताजी को मनाने के लिये माँ को कह दूंगा। करूणा से भरी माँ मेरी बात जरूर मानेगी और उसे तो ऋषिदत्ता देखते ही पसन्द आ जायेगी!' माता के संरक्षण-विचार ने मुझे आश्वस्त किया। मेरे दिमाग में माँ का व्यक्तित्व उभरने लगा। 'माँ ऋषि को राजमहल की जीवन-पद्धति अत्यन्त प्रेम और स्नेह से सिखायेगी। ऋषिदत्ता अगर भूल भी करेगी तो माँ गुस्सा तो करेगी ही नहीं, चूंकि इसकी मासूमियत ही ऐसी है! इसको देखते ही....अगर गुस्सा आया भी हो तो भी उतर जाय!' मैंने अपनी निगाहें ऋषि पर डाली। इस बार ऋषि की आँखें भी मेरी आँखों से चार हो गयी। उसने मुझसे कहा: 'ये सामने जो दिखता है, यही रथमर्दन नगर है क्या ?'

'हाँ, यही अपना नगर है!' वो नगर की ओर अपलक निहार रही थी। मैं उसके सामने देख रहा था। रथ के अश्वों की गति में वेग आ रहा था, जैसे कि वे भी अपने नगर को पहचान गये हो! अल्प समय में ही हम नगर के बाह्य प्रदेश में जा पहुँचे।

वहां पर हमारा स्वागत करने के लिये मंत्रीमंडल और हजारों नरनारी उपस्थित थे। हमारे पहुँचते ही लोगों ने हमारा जयनाद अभिवादन किया। सबकी निगाहें ऋषिदत्ता पर जा रही थी। मुझे लगा कि ऋषिदत्ता को देखकर सभी लोग काफी प्रसन्न है। मेरा मन संतुष्ट बना। महामंत्री ने मेरी कुशलपृच्छा की। मैंने अत्यन्त नम्रता से प्रत्युत्तर दिया। बाद में बड़ी धूमधाम के साथ हमारा नगरप्रवेश हुआ। नगर के राजमार्गों पर प्रजाजनों की भीड़ हमें उल्लास से बधाइयाँ दे रही थी! मेरा मन भी प्रसन्नता से उछलने लगा।

'मां, तेरी पुत्रवधु रात को खाना नहीं खाती !'

'बहुत अच्छा बेटा, अब तेरे भी रात्रिभोजन का त्याग अपने आप हो जायेगा !'

'क्यों ?'

'तुझे भोजन कराये बिना यह भोजन थोड़े ही करेगी ?' ऋषिदत्ता ने मेरी ओर देखा। मैंने भोजन की बात की, शायद उसे अच्छी नहीं लगी....ऐसा लगा। मेरे चेहरे पर स्मित की बदली आ बैठी।

मां ऋषि को लेकर रसोईगृह में चली गयी। दासी ने आकर समाचार दिये कि मेरे मित्र मेरी प्रतीक्षा करते हुए बाहर खड़े हैं, मैं जल्दी से मित्रों के पास जा पहुँचा।

मित्रों के साथ औपचारिक बातें की, वहां तो भोजन के लिये निमंत्रण आ पहुँचा। दासी आकर सूचना दे गयी। पिताजी भी भोजन के लिये आ गये थे। मित्रों से बाद में मिलने का वादा करके मैं भोजन गृह में पहुँचा। पिताजी मेरी राह देख रहे थे। हम पिता-पुत्र ने साथ ही भोजन किया। मां पास में बैठ कर आग्रहपूर्वक भोजन करवा रही थी। ऋषि मां के पीछे बैठकर संकोच से मां को सहाय कर रही थी। बीच-बीच में वो मेरे सामने कनखियों से झांक लेती थी। वो मेरी प्रसन्नता का प्रतिपल ख्याल रखती थी।

८.

ऋषिदत्ता को राजपरिवार की रीत भात से परिचित होते हुए देर न लगी। मां का वात्सल्य भरपूर मार्गदर्शन उसको सतत् मिलता था। उसके हृदय में मेरी मां का स्थान एक सास के रूप में नहीं परन्तु मां के रूप में था। मेरी मां भी उसे अपनी पुत्री के समान ही मानती थी। 'मैं सास हूँ और यह मेरी बहू है,' ऐसा विचार भी उसने नहीं किया, तो फिर सासपने की अहंकारिता को पनपने के लिये तो स्थान ही कहां था। मां और ऋषिदत्ता के प्रेमभरपूर संबंधों ने समूचे राजमहल को प्रसन्नता से हरा-भरा बना डाला। हंसती-रमती ऋषिदत्ता को देखकर मेरा दिल भी झूम उठता था। मैं हमेंशा इस बात का ख्याल रखता था कि 'ऋषि के नाजुक दिल को जरा भी पीड़ा या वेदना न हो,' हालांकि वो भी मेरे लिये इतनी ही सावध थी।

एक दिन मैंने उससे पूछा : 'ऋषि, तुझे आश्रम की याद सताती है? तब उसने कहा : 'यहाँ आकर मैं आश्रम को तो बिल्कुल भूल ही गई हूँ। मैं कितनी वो हूँ जो आश्रम को ही भूल गई। जिसकी मिट्टी में मैंने मेरा बचपन बिताया और बरसों तक आनन्द के झूले पर झूली! उसे मैं बिल्कुल ही भूल गई!'

तो सीने से लगा कर बहुत प्यार-दुलार किया। उनके लिए बगीचे में मैंने एक अच्छी जगह पसन्द कर ली है। अपने आवास में से उन्हें देख सकें....। चलो, मैं आपको बतलाऊं!' मेरा हाथ पकड़कर वो मुझे झरोखे में ले गयी। झरोखें में से उसने मुझे हंसते खेलते हिरन-हिरनी को दिखाया। मेरा मन प्रसन्न हो उठा। मैंने उसको कहा :

'ऋषि, अपन मां के पास चलें, वो मेरी राह देख रही होंगी।'

हां, मुझे भी मां ने कहा था। वो जगे तो मुझे कह देना....मैं तो कहना भी भूल गयी!'

'कहां भूल गयी? कह तो दिया! मैं अभी ही तो जगा हूं न?'

'तो मैं कह आऊं!'

'नहीं, अपन चलते ही हैं!'

'मैं आऊं?-

'क्यों, तुझे आराम करना है?

'नहीं, पर मां को तुम्हारे साथ कुछ बातें...।'

मैंने हंस दिया। उनके मन की बात मैं समझ गया। मैंने उससे कहा कि 'ऐसा संकोच मत कर, ऋषि, तूं और मैं अलग नहीं हैं!' उसने मेरे सीने में अपना चेहरा छूपा दिया।

हम दोनों मां के पास पहुँचे। मां के पास बड़े घराने की आठ-दस स्त्रियां बैठी हुई थी। मां को प्रणाम करके समीप एक भद्रासन पर

में बैठ गया। ऋषि मां के चरणों में बैठ गयी। मिलने आयी हुई स्त्रियों ने मेरी कुशलपृच्छा की और रूप-रूप के दरिये सी पत्नी मिलने के लिए अभिनन्दन दिया। उन स्त्रियों ने ऋषिदत्ता के रूप की तो ऐसी प्रशंसा करना चालू किया कि बेचारी ऋषि तो शरम के मारे पानी पानी हो गयी और वहां से उठकर भागने लगी।

मा हंस पड़ी और ऋषि को अपने अंकपाश में खींच लिया। संध्याकालीन भोजन का समय हो जाने से आगंतुक स्त्रियां मां का अभिवादन करके चली गयी।

[illegible] मेरे सामने देखा। मां के चेहरे पर अत्यन्त प्रसन्नता की आभा बिखरी थी। ऋषि के साथ जैसे जन्म-जन्म के सम्बन्ध हो....। वैसे मां ऋषि को चाहने लगी थी। मां अब मेरे साथ शान्ति से बातें करना चाहती थी। उसने दासी को बुलाकर कह दिया। 'अब किसी को अन्दर मत आने देना!'

माता को मैं रथमर्दन से कावेरी जाने के लिये निकला तब से लगाकर सभी बातें जानने की इच्छा थी। और इच्छा होना भी स्वाभाविक था! मैंने अथ से इति तक सारी बातें कह सुनायी, जब मैंने राजर्षि हरिषेण के अग्नि-प्रवेश बात कही मां की आंखें बरसने लगी। ऋषिदत्ता भी मां की गोद में सर छुपा कर फफक रही थी। मेरा स्वर भी रुंधा जा रहा था। मैंने तुरन्त ही बात बदलकर खामोशी से सने वातावरण को हल्का करने का प्रयास किया।

सारी बातें सुनकर मां के हृदय में ऋषिदत्ता के प्रति वात्सल्य और बढ़ गया था। शाम के भोजन का समय हो गया था। ऋषिदत्ता रात को भोजन नहीं करती थी, अतः मैंने मां से कहा:

अभी मुझे दैनिक कार्यों से निपटना बाकी था। पिताजी की आज्ञा लेकर मैं सीधा माँ के पास पहुँचा। मुझे देखते ही ऋषिदत्ता ने प्रश्नसूचक निगाहों से मेरे सामने देखा, मैंने पूछा:

'क्यों ?'

'अपना हिरन हिरनी का जोड़ा कहाँ गया ?'

'हं....यहां मंगवा दूं क्या ?' मैंने हंसकर पूछा। माता कुछ समझ नहीं पाई, इसलिये उसने जिज्ञासा से मेरे सामने देखा, मैंने माँ को कहा :

'हम आश्रम में से एक सुन्दर हिरन-हिरनी का जोड़ा साथ लाये हैं, माँ तुम्हें भी वो पसन्द आयेगा !'

'ऐसा ? कहाँ हैं वो जोड़ा ? महल के पिछवाड़े के बगीचे में उसे रखेंगे....क्यों बेटी ?' माँ ने ऋषि को पूछा। ऋषि ने सर हिलाकर अपनी सहमति दे दी। मैंने दासी को सूचना दी। दासी हिरन हिरनी को लेने चली गयी, और ऋषि को लेकर मैं मेरे आवास में पहुँचा। स्नानादि से निवृत्ति होकर हम बैठे ही थे, वहीं माँ ने भोजन के लिये बुलाया।

'तुम्हारी माँ कितनी भावुक और प्यारभरी है ! मुझे बहुत अच्छी लगती है !' ऋषि ने मेरे हाथ को अपने हाथ में लेते हुए कहा : 'तेरी बात सही है....माँ तो वात्सल्य की गंगा है !'

हम भोजन के लियेप हुँच गये। मैं भोजन करने बैठा। ऋषिदत्ता माँ के पास जाकर बैठी। माँ ने उसे मेरे साथ भोजन करने के

लिये कहा, पर उसने इन्कार कर दिया। उसने माँ के साथ ही भोजन करने का आग्रह रखा। माता ने उसका आग्रह मान्य रखा। मैंने माँ से कहा :

'वो अपने हिरन हिरनी को अपने हाथ से हरी-हरी घास खिलायेगी तब उसे खाना भाएगा। अतः पहले यह काम कर!'

माँ ने ऋषिदत्ता के चेहरे पर प्यार भरा स्पर्श करते हुए कहा:

'बेटी, पशु में भी अपने जैसी ही आत्मा रहती है। उसके सुख दुःख का विचार अपन को करना ही चाहिए....आज तो मैं भी तेरे साथ आऊँगी। अपन दोनों उस जोड़े को खिलायेंगे!' ऋषिदत्ता के आँखों में खुशी के आँसू छलक आये, माँ ने अपने वस्त्र के छोर से उसकी आँखें पोंछ डाली।

× × × ×

भोजन से निवृत्त होकर मैंने विश्राम करने का सोचा। ऋषि-दत्ता माँ के साथ ही थी। मैं शयनगृह में पहुँचा। दीर्घयात्रा की थकान से तन बदन चूर-चूर हो रहा था। पलंग में गिरते ही मैं खर्राटे भरने लगा। दिन का तीसरा प्रहर पूरा हो चुका था। मेरी नींद खुली। ऋषिदत्ता मेरे पलंग के समीप ही जमीन पर बैठी थी। वो खुश नजर आ रही थी। उसने मुझे पानी दिया। मैंने पानी पिया और पूछा :

'तू कब से यहाँ बैठी है ?'

'अभी ही आयी! माँ ने मुझे सारा राजमहल बताया। उन हिरन-हिरनी को देखकर तो माँ इतनी झूम उठी बस...! हिरनी को

हम राजमहल में पहुँचे। नगरजनों ने सर झुकाकर हमारा अभिवादन किया और हमने राजमहल में प्रवेश किया। वैसे तो मैं सीधे ही पिताजी के पास जाना चाहता था, पर ऋषि को संकोच न हो, इसलिए मैं सीधा माँ के पास पहुँचा। माँ के चरणों में मैंने मेरा मस्तक झुकाया। ऋषि ने भी अनुकरण किया। माता ने हम दोनों के सर पर हाथ रखकर स्नेहार्द्रता से हमें चूम लिया। ऋषि को तो माँ ने अपने अंक में ही भर लिया। बार-बार उसके चेहरे पर हाथ फेरने लगी और प्रेम से उसको भर दिया। ऋषि का चेहरा शरम के मारे लाल टेसू सा निखर आया था।

माँ ने ही उसको पूछा :

'बेटी, मैं तुझे किस नाम से पुकारूँ ?'

'ऋषिदत्ता !' अपने पैर के अंगूठे से जमीन को कुरेदते हुए पलकें झुकाकर उसने कहा। मैंने माता से कहा :

'मैं पिताजी के चरणों में नमस्कार कर आऊँ माँ !'

'ऋषिदत्ता को भी साथ ले जा !'

माता के स्नेहसभर व्यवहार से मन निर्भय बन चुका था। पिताजी के पास जाने की झिझक अब रही न थी। हम दोनों ने पिताजी के कक्ष में प्रवेश किया। पिताजी प्रसन्नचित्त थे। मैंने दौड़कर उनके चरणों में नमस्कार किया। ऋषिदत्ता ने भी किया। पिताजी ने हम दोनों के सर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिये। मेरा हाथ पकड़कर अपने पास बिठाया। मैंने ऋषिदत्ता को इशारे से माँ के पास जाने को कह दिया। तुरन्त ही पिताजी बोले :

'बेटी, राजमहल ही तुम्हारा घर है....सुखी बनो !'

ऋषिदत्ता ने सर झुकाकर पिताजी को नमस्कार किया और धीरे-धीरे कदम रखती हुई वो खंड के बाहर निकल गयी। पिताजी उसे जाती हुई देखते रहे....उसके जाने के बाद उन्होंने मेरे सामने देखा और बोले :

'वत्स, अमरावती के महाराजा हरिषेण मेरे परिचित थे। राज्य का त्याग करके रानी प्रीतिमति के साथ उन्होंने आश्रम जीवन को अपनाया था, यह बात मैं भली भांति जानता था। अतः यह कन्या राजकन्या ही है....इसकी मुखाकृति ही कह देती है मेरी पुत्रवधु सुशीला है, जैसी सुन्दर वैसी ही गुणी है।'

मैं सर झुकाकर आँखें जमीन पर गड़ाए हुए सुन रहा था। पिताजी के मुलायम शब्दों ने मुझे अत्यन्त प्रसन्नता दी। सचमुच मुझे लगा : 'ऋषि स्वयं पुण्यशीला है !' पिताजी ने मुझे किसी तरह का उपालंभ नहीं दिया। 'तूने मुझे कुछ पूछा भी नहीं ? कावेरी क्यों नहीं गया ? कावेरीपति मेरे पर कितने नाराज होंगे ? तूने अनुचित कदम उठाया....' ऐसी कोई बात नहीं कही। ऋषिदत्ता की काफी प्रशंसा की। इतना ही नहीं, मुझे कहा :

'बेटे ऋषिकन्या है ! राजमहल की रीति रसम से परिचित होने में उसे देर लगेगी। उस पर गुस्सा मत करना। बिल्कुल हिरनी सी मुग्धा एवं निर्दोष है !'

मैंने पिताजी से इतने सौजन्य भरे व्यवहार की कोई अपेक्षा नहीं रखी थी। इतना प्रेमभरा-सौहार्दपूर्ण व्यवहार देखने को मिला तो मेरे मन में पिताजी के लिये काफी आदर बढ़ गया।

उसकी बड़ी बड़ी आंखों में पानी भर आया। मुझे लगा कि 'मैंने आश्रम की याद दिलाकर गलती की। मैंने बात को बदलने का प्रयास किया। मैंने कहा : 'नहीं....नहीं, ऋषि, मैं इस इरादे से नहीं पूछता हूँ, मैं तो इतना ही पूछना चाहता हूँ कि तुझे यहां राजमहल में कोई कमी तो महसूस नहीं होती ? कोई प्रतिकूलता या अनमनापन तो नहीं लगता ?'

वो एकदम भावविभोर हो गई। उसने कहा स्वामिन्, यहाँ किस बात की कमी है ? आप मेरा कितना ध्यान रखते हैं ! 'माँ भी कितना प्यार करती है ? माँ तो सचमुच माँ है !'

मैं ऋषिदत्ता के निसर्गप्रेम से परिचित था, इसलिये उसे लेकर मैं कई बार नगर से दूर दूर रमणीय वन प्रदेश में चला जाता ! कल कल बहते झरनों के किनारे बैठकर वो पानी में अपने पैर डूबोये रखती पैरों को नचाती ! खेतों की लहलहाती फसलों के बीच दौड़ कर छुप जाती और मेरे से खोज करवाती। पहाड़ियों पर कूदती हुई चढ़ जाती, मैं पीछे रह जाता तो वो खिलखिलाकर हंस देती ! पीछे लौटकर मेरा हाथ पकड़कर वो मुझे ऊपर खींच ले जाती। ऐसे में यदि कोयल की कुहुक सुनायी देती तो वो झूम उठती ! उसका हास्य ! उसके नृत्य ! उसके गीत ! मेरे हृदय को आनन्द से भर देते थे। अलबत्ता, उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में औचित्य को पूरा स्थान था। विनय और विवेक को पूरा स्थान था।

परमात्मा के मन्दिर में वो माँ के साथ जाती थी। रंग-बिरंगे सुगन्धी पुष्पों से परमात्मा की मूर्ति को वो ऐसी तो सजाती कि माँ का मन पुलकित हो उठता। परमात्मा की स्तवना में तो दोनों अत्यन्त

भावविभोर बन जाती। ऋषिदत्ता की आवाज में बेहद सुरीलापन था। उसका समग्र अस्तित्व ही जादूभरा था। यह सब मेरा ही कहना है ऐसा नहीं....राजमहल के अन्य लोग और मां का भी यही कहना था।

ऋषिदत्ता के सहवास में इस तरह जीवन बीत रहा था। अभी तो महिने भी नहीं बीते थे जो दिन भी बीते थे वो भी इतने जल्दी बीते जैसे कि उन्हें पंख लगे हो! सबको तो ऐसा ही लग रहा था कि 'राजकुमार अभी अभी कल ही शादी करके आया है!'

इन्हीं दिनों एक सुबह न बनने की बात बन गयी! अभी क्षितिज को सूरज ने चूमा भी न था। उषा की रंगोलियाँ क्षितिज पर छा चुकी थी। इतने में महल के बाहर कुछ शोर सा सुनायी दिया! ऋषिदत्ता निद्राधीन थी। मैं पलंग में से खड़ा हुआ और शयनगृह के वातायन में से बाहर देखा। राजमहल के द्वार पर लोग बोल रहे थे। 'आज रात को नगर में एक पुरुष की हत्या हो गई है!' हमारे नगर में हिंसा का बनाव कभी कभार ही होता था, अतः बनाव से नगर के चौकीदार चौंक उठे थे।

मैं आकर पलंग में बैठा। मैंने सोयी हुई ऋषिदत्ता के सामने देखा और चमक उठा। मेरी आँखें चौड़ी हो गयी। ऋषिदत्ता का मुंह खून से सना हुआ था। उसके कपोल पर भी खून के दाग थे मैंने ध्यान से ऋषिदत्ता का मुंह देखा। आसपास में देखा तो तकिये के पास मांस के कुछ टुकड़े थे। मेरा सर चकराने लगा। मेरे मन में तीव्र गति से विचार उभरने लगे।

'नगर में एक मनुष्य की हत्या हो चुकी है, दूसरी और ऋषि-दत्ता का मुंह खून से सना हुआ है और उसके तकिये के पास से मांस

के टुकड़े मिल आये हैं....क्या रात में जब मैं भर निन्द्रा में था तब इस ऋषिदत्ता ने नगर में जाकर उस व्यक्ति की हत्या कर दी होगी ? क्या इस ऋषिकन्या में राक्षस छुपा होगा ? क्या इसी ने हिंसा की होगी ? कभी मैंने इस स्त्री का ऐसा रूप नहीं देखा। और यह हुआ कैसे ?'

'जिस कन्या का जन्म ऋषि के आश्रम हुआ है....जिस का लालन-पालन एक महात्मा पिता की छाया में हुआ है। जिसको जन्म से ही अहिंसा और सत्य के पाठ पढाये गये हैं....जिसने मुझे कई बार मांसाहार के दुष्परिणाम बतलाये हैं, वो स्त्री ऐसा हीन कृत्य कर सकती है क्या ?'

मेरा मन व्यथित बन गया। कई प्रकार के विचार तंरगों से मन-सरोवर आंदोलित हो गया।

'हाँ....हाँ....कुछ भी हो, आखिर यह स्त्री है....स्त्री-चरित्र हमेंशा दुर्बोध रहा है। नीतिशास्त्र की यह बात 'रूपक्षीरपापबहुला !' सही प्रतीत होती है। इसका बाह्य शरीर जितना रूप भरा और लावण्यमय है इतना आंतरिक रूप भयानक लगता है। यह डायन प्रतीत होती है ! भयंकर मायाविनी सी लगती है !

जिस ऋषिदत्ता के लिये, मैंने जब से उसको प्रथम बार निहारा तब से लेकर आज की पल तक एक भी गलत विचार नहीं किया.... उसके लिये मेरे मन में काफी हल्के विचार आने लगे।

मैंने पुनः ऋषिदत्ता की ओर गौर से देखा ! उसके होंठ, कपोल नाक वगैरह खून के दाग से सने हुए थे, पर उसके चेहरे पर एक तरह

की प्रगाढ़ सौम्यता की आभा दमक रही थी। उसके मुख पर निर्भयता और निश्चितता की रेखाएं अंकित थी। जो कि गुनहगार के लिए काफी मुश्किल होता है। फिर मन बोल उठा....'नहीं....नहीं, ऋषिदत्ता इतनी निर्दय नहीं हो सकती ! क्रूर नहीं हो सकती। ऐसा घोर कृत्य यह कोमल और नाजुक नारी नहीं कर सकती।'

उसी मन में एक और विचार धंस आया : 'तो फिर इसका चेहरा खून से सना कैसे ? मांस के टुकड़े यहां उसके तकिये के आस-पास आये कैसे ?'

कुछ सूझता नहीं है....मन झुंझला उठता है....बुद्धि बहरी हो गयी है। वही सोचा, 'चलो इसी को पूछ लिया जाये। वो क्या कहती है ? वो अब तक तो कभी मेरे सामने झूठ बोली नहीं है।'

मैंने ऋषिदत्ता को जगाया। शयनगृह का दरवाजा बन्द ही था उसने आंखें खोली। मेरे सामने देखा। मेरे चेहरे पर उसने अनपेक्षित नफरत के भार बिखरे देखे होंगे, इसलिये उसने पूछा : 'नाथ, आज आपके चेहरे पर इतना विषाद क्यों है ? हालांकि इसके इस प्रश्न से ही मेरा मन झल्ला उठा। मन में आया : कह दूं। तेरा चेहरा तो देख ! विषाद न आये तो क्या हो।' पर गुस्से को पीकर मैंने ऋषिदत्ता को कहा 'मुझे तुझसे कुछ कहना है !'

'कहिये ना !' उसकी आंखों में मृगछौने सी मृदुता थी।

'राजर्षि हरिषेण के कुल में उत्पन्न हुई तूं क्या कोई डायन है ?' मेरा प्रश्न सुनकर वो कांप उठी। उसने अपनी हथेली से मेरे मुंह को ढाप दिया। और आर्द्र स्वर में बोली :

'आप यह क्या बोल रहें हैं ?'

'देवी, तूं अपना मुंह जरा दर्पण में देख ! तेरे मुंह-पर खून के दाग हैं....और तेरे तकिये के आस-पास पड़े मांस के टुकड़े बिखरे हैं....और उधर रात में नगर में एक पुरुष की हत्या हो गयी है !'

ऋषिदत्ता एक दम पंलग पर से नीचे उतर गयी और दर्पण में अपने चेहरे को देखा। तकिये के पास पड़े मांस के टुकड़े देखे। उसके शरीर पर कंपकंपी फैल गयी। पल भर के लिये वो विचार में डूब गयी। पर तुरन्त ही स्वस्थ बनकर अत्यन्त दृढ़ता के साथ उसने मुझसे कहा :

'स्वामिन् यदि मैं माँसभक्षिणी होती तो आपसे क्यों मांस नहीं खाने को कहती ? मैं इस घटना से पूर्णतया अनभिज्ञ हूँ, में कुछ भी नहीं जानती हूँ। मेरे किसी विद्वेषी ने ही, मेरे पूर्वजनित पाप कर्म से प्रेरित होकर किसी ने यह कृत्य किया लगता है....फिर भी यदि आपको मेरी तरफ नफरत हुई हो तो आपकी हर शिक्षा मुझे मंजूर है।'

वो मेरी तरफ टकटकी बांधे देखती रही। उसके शब्द ! उसकी निर्दोष आंखें ! उसका व्यक्तित्व, इन सब में मुझे सच्चाई प्रतीत हुई। मेरा मन बोल उठा :

नहीं, नहीं ऋषिदत्ता बिल्कुल निर्दोष है। जरूर किसी विद्वेषी और डाह रखने वाले व्यक्ति की क्रूर जाल में ऋषिदत्ता फंस गयी है.... हमारी ऐसी प्रगाढ प्रिति, किसी की इर्ष्या का मिमित्त बनी है। ऋषिदत्ता पर इल्जाम लगाकर उसे बदनाम करने के लिये ही किसी ने ऐसा किया है।'

मैंने तुरन्त ऋषिदत्ता से कहा : 'तू निर्दोष है, ऐसा पापकृत्य तूं कर ही नहीं सकती। मैंने गलत धारणा बांधी....तूं मुझे माफ कर दे।'

ऋषिदत्ता तो खड़ी ही रही थी। मेरे शब्द सुने या नहीं.... मालूम नहीं....पर मैंने तुरन्त पानी लेकर उसका मुंह धो डाला और मांस के टुकड़ों को नाली में डाल दिया। ऋषिदत्ता के दिल पर क्या बीत रही होगी, इसकी कल्पना मुझे आ रही थी। मैंने उसको अपने समीप खींचते हुए उसे आश्वस्त किया और मेरे मन में ऐसी कोई शंका नहीं रही है, इसका उसे पूरा यकीन दिलाया। मुझे लगा कि मेरा प्रयत्न सफल रहा। उसके चेहरे पर पूर्ववत् चांदी सा स्मित छलकने लगा।

हम जब शयनगृह से बाहर निकले तो जैसे कि कुछ बना ही न हो, इसी ढंग से बाहर निकले! ऋषिदत्ता मां के पास पहुँच गयी और मैं सीधा ही पिताजी के पास गया। पिताजी के चेहरे पर चिन्ता की रेखाएं बिखरी थी और वो स्वाभाविक था। प्रजावत्सल राजा के दिल को अपने ही प्रजाजन की निर्मम हत्या से रोष पहुँचे यह बिल्कुल स्वाभाविक था। मुझसे पिताजी ने बात भी की और हत्यारे को पकड़ने के प्रयत्न चालू करने के समाचार भी दिये।

मैंने अपने शयनगृह की बात पिताजी या माताजी से नही करने का निर्णय किया था। ऋषिदत्ता को भी मैंने कह दिया था कि वो मां से जरा भी बात न करें! इसके सिवा और तो किसी से बात करने की सम्भवता उसके लिये थी ही नहीं। यदि वो मां को बात करे तो मां पिताजी से यह बात करें ही। पिताजी इस बात का सम्बन्ध नगर में

हुई हत्या की घटना से जोड़ेंगे ही फिर तो इसका अन्जाम कितना भयंकर हो जाये ! ऋषिदत्ता की निर्दोषता को वे कबूल करे ही नहीं। ऋषिदत्ता की प्रशंसा करते हुए न थकने वाले भी उसे दोषित मानने के लिये तैयार हो जायें। और फिर मैंने भी तो पल भर के लिये ऋषिदत्ता को दोषित मान ली थी न ? तो फिर औरों की तो बात ही कहां ! वो तो मान ही बैठे न ?

मेरे मन में दूसरा प्रश्न उठा : 'ऐसा कृत्य किसने किया होगा ? किसके दिल में ऋषिदत्ता के प्रति ऐसी वैर भावना पैदा हुई होगी ? क्य हुई होगी ? ऋषिदत्ता ने तो किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं है ! आश्रम में भी उसका कोई शत्रु नहीं था और सुशील स्त्री का शत्रु हो भी कौन ? मेरा मन अत्यन्त आतंकित हो उठा, पर समाधान नहीं मिला।

मध्याह्न के भोजन के पश्चात् जब मैं शयनगृह में आराम करने गया तब ऋषिदत्ता मेरे पास आयी। उसके चेहरे पर साहजिक निर्दोषता थी, फिर भी उसकी आंखों में शून्यता से सरोबार वेदना थी। मैंने उसके दोनों हाथों को अपने हथेलियों में बांधते हुए कहा : 'ऋषि, आज मेरे कठोर व्यवहार से तुझे बहुत दुःख हुआ नहीं ?'

'इसमें आपका क्या दोष ? यह तो मेरे पूर्व संचित कर्म उदय में आये होंगे, तभी आपसे भी ऐसा बर्ताव हो गया ! आपका कोई दोष नहीं, दोष मेरे कर्मों का ही है।'

'नहीं....नहीं... तेरे कर्म तो अच्छे ही हैं, दोष तो मेरा ही है।'

'यदि मनुष्य के कर्म अच्छे हों तो उसे कोई दुःखी नहीं कर सकता है, ऐसा मेरे पिताजी मुझसे कहा करते थे। यदि मनुष्य के पूर्व

अर्जित कर्म इस भव में उदय में आये तो वो दुःखी होगा ही ! यह बात मेरे पिताजी ने मुझे कई बार समझायी है।'

'तेरे पिताजी ने तुझे क्या नहीं दिया ? कितना सुन्दर तत्वज्ञान दिया है तेरे को ? मुझे भी तू ऐसी तत्वज्ञान की बातें करेगी ना ?'

'नहीं, मुझे कहां आती हैं ऐसी बातें करना ?'

'तुझे आती हैं ! तेरी ऐसी बातें सुनकर मेरा मन काफी प्रसन्न बनेगा। क्या तूं मुझे आनंदित नहीं रखेगी ?'

'नाथ, आपको, आनन्द नहीं दूंगी तो फिर दूंगी किसे ? आप मुझे कितना आनन्द देते हैं ?'

'कहां देता हूं ? आज तो तेरे को कितना विषाद दिया है ?'

'अब आप उस बात को भूल जाइये, संसार में यह सब बनता ही है ! पर एक बात पूंछू ?'

ऋषिदत्ता ने मेरे सामने देखा और पूछा। मैंने सहमति में अपना सर हिलाया। पल भर तो वो शयनगृह के वातायन की ओर झुके-झुके नील गगन को निहारती रही....और फिर बोली : 'स्वामिन्, मुझे लगता है कि मेरे किसी गत जन्म के पाप कर्म उदय में आये हैं.... नहीं तो ऐसी घटना बन नहीं सकती। खैर, मैं तो जो भी दुःख आयेगा वो सह लूंगी पर मेरे लिये आपको सहन करना पड़े तो आप मेरा त्याग ...' और वो फफक उठी।

मैंने उसके मुख पर दाहिना हाथ ढांप दिया। उसके बरबस बहते आंसूओं से मेरा हाथ गीला हो गया। मेरा स्वर भर्रा गया था। मैंने भर्रायी आवाज में कहा :

'ऋषि, ऐसा विचार मत करना! तेरे से तो मैंने कितना सुख पाया है! और तेरे लिये तो मैं हर दुःख सहन करने के लिये तैयार हूँ! 'सुख में साथ और दु;ख में त्याग, यह तो अधमता का सूचक है!'

सरल, निर्दोष और हिरनी सी भोली भाली ऋषि कन्या के लिये मेरे प्राण बिछा देने की भावना पैदा हो उठी! पर आखिर भावुकता ही थी न? भावुकता कहां शाश्वत् होती है! वो तो होती है अल्पजीवी और पानी के बुलबुले सी!

दूसरे दिन प्रभात में ही विगत दिवस की घटना का पुनरावर्तन हुआ। मैंने जल्दी जल्दी उठकर सब से पहले ऋषिदत्ता का मुख देखा, मुँह पर प्रथम दिन की भांति खून के दाग थे और तकिये के पास मास के टुकड़े पड़े थे। मैंने धीरे से सावधानीपूर्वक ऋषिदत्ता के मस्तक पर हाथ रखकर उसको जगाया। ऋषिदत्ता ने उठकर अपना मुख दर्पण में देखा, साथ में तकिये के पास बिखरे हुए मांस के टुकड़े देखे। ऋषिदत्ता का मुख म्लान हो गया। मैंने आज खूब स्नेहपूर्वक उसको कहा :

ऋषि, कोई विषमतत्त्व अपने को बदनाम करने के लिए और परेशान करने के लिए तुला हुआ है फिर भी तू चिन्ता मत कर। परमात्मा ऋषभदेव की कृपा से विघ्न टल जाएगा। मैंने स्वयं ने पानी से उसका मुख धोया और मांस के टुकड़ों को नाले में फेंक दिए। ऋषिदत्ता स्थिर नयनों से मुझे देख रही थी और बार-बार मेरे हृदय में प्रीति का रस घोल रही थी। विश्वास के कण बिखेर रही थी। मैं भी यही चाहता था कि ऋषिदत्ता में सम्पूर्ण स्नेहभाव विश्वस्त हो जाय, हृदय का कालुस्य सर्वथा मिट जाय और हम दोनों एकता के आसन पर सदा के लिए स्थिर हो जाए।

जिस समय मैं शयनगृह से बाहर आया तो सहसा राजपुरुषों के मुख से समाचार मिले कि आज भी नगर में एक मनुष्य की हत्या हो गई है ! यह सुनते ही मेरा हृदय कांप उठा और मैंने राजपुरुषों को त्वरित कहा : 'हत्यारे को जैसे तैसे पकड़ लो और निर्दोष मनुष्यों को मृत्यु से बचाओ।' उसी समय मेरे मन में संकल्प जगा और मैंने यह निर्णय लिया :

'कोई ऋषिदत्ता को कलंकित करने का प्रबल विचार कर रहा है। इसलिए मुझे रात्रि में जागरूक बन सोते रहने का बहाना करना चाहिए। संभव है कि जो दुष्ट व्यक्ति नगरवासी की हत्या करता है वही ऋषिदत्ता के मुख को खून से रंग देता होगा। हत्यारे का व्यक्तित्व असाधारण लगता है कि वह सैनिक-सुरक्षा से सुसज्जित राजमहल में किस तरह प्रवेश कर बैठता है। न कोई द्वार खुलता है न कोई खिड़की खुली रहती है, न किसी प्रकार चोरी होती है। यह घटना बार-बार मेरे मानस को मथित करती रहती थी मैं विचारों के व्यामोह में विकल बनता जा रहा था और प्रातःकाल के नित्य कर्म से भी निवृत्त होता जा रहा था कि पिताजी का संदेश आया। मैं शीघ्र ही पिताजी के चरणों में सविनय उपस्थित हुआ। पिताजी नगरी के राजमान्य-गणमान्य व्यक्तियों के मध्य महामात्य के साथ तथा सेनापति सहित उदासीन भाव में डूबे हुए थे।

मैंने पिताजी के पास में आसन ग्रहण किया। पिताजी ने मेरी तरफ देखकर गम्भीरता से कहा : कनकरथ आज भी नगरवासी की निर्दय हत्या हो गई है। हत्यारा अभी तक हाथ लगा नहीं है।' मैंने सेनापति का मुँह ताका। सेनापति नीची आंखों से धीरज छोड़ते हुए धरती को निहार रहे थे। मैंने संतुलित होकर कहा:—सेनापति जी !

सेनापति ने सिर नमाकर कहा—जी, महाराजकुमार !

'आज रात को संपूर्ण नगर में गुप्तचरों का जाल बिछा दो। हत्यारा किसी भी प्रकार यहां से भाग नहीं सकता है। आप मेरे साथ चलिए, गुप्तमन्त्रणालय में बैठकर कुछ महत्त्वपूर्ण कदम विचारा जाय।'

पिताजी बोले—बेटा कनकरथ, हत्यारा असाधारण है तथा होशियार है, उसे फिर भी तुम लोग दक्षता-पूर्वक संगठित होकर पता लगाओ और जल्दी उसे पकड़ लो।'

मैंने उठकर मस्तक झुकाकर यही कहा—'ऐसा ही होगा।' इस प्रकार नगर के आगन्तुक प्रतिष्ठित व्यक्तियों को संतोष हुआ। मैं भी मन्त्रालय में पहुँचा। सेनापति भी मेरे साथ थे। समस्त गुप्तचर विभाग को भिन्न-भिन्न दृष्टि से मार्गदर्शन दिया और अन्त में यही कहा : 'हत्यारा हाथ से निकल न जाए, इसके लिए पूरी-पूरी सावधानी जरूरी है।'

यद्यपि मेरा मन बार-बार यही सोचता था कि 'क्या हत्यारा हमारी सैनिकव्यवस्था को ठुकरा रहा है? हमारी गुप्तचर सुरक्षा को भी तिरस्कृत कर शयनकक्ष में पहुँच रहा है, यह कैसा बलवान् बुद्धिमान् हत्यारा है कि जो मेरी धर्मपत्नी के मुख को भी शोणित से रंग देता है और हमको विचारों के जंगल में भटका देता है। यह सब करने का क्या उद्देश्य होगा? न मालूम विधि की क्या विडम्बना है!

विचारों की विकलता में सन्ध्या का सिन्दूर उभरा और आपत्ति के अन्धकार में समस्त नगर डूबा। एक तरफ कालरात्रि का कर्कश तिमिर धरा पर उतरता जा रहा था, दूसरी तरफ गुप्तचरों का महल

दल बिखर-बिखर कर सुरक्षा का सचोट मार्ग निर्धारित करता जा रहा था। प्रत्येक नागरिक अपने-अपने द्वार को नियन्त्रित कर निःशंक बनने के प्रयास में डूबा हुआ था। मैंने भी राजमहल के चारों तरफ सैनिक दल को सुगठित कर यह आज्ञा दी कि कोई अज्ञात व्यक्ति अन्धकार में इधर-उधर छिप न जाय और त्वरित ही अनजान जन को पकड़ कर मेरे समक्ष उपस्थित किया जाय।

नगर और राजमहल का वातावरण विषाद से ग्रस्त था। ऋषिदत्ता वातावरण से पूरी-पूरी प्रभावित थी। वह गम्भीरता में और मौनवृत्ति में मग्न थी। मैंने मन्द-मन्द मुस्कराते हुए ऋषिदत्ता की उदासीनता को दूर की। प्रसन्नता का परिमल बिखेरा, और वार्तालाप का मधुर मनोज प्रसंग प्रारम्भ कर ऋषिदत्ता को तृप्त किया। तृप्त बनी हुई ऋषिदत्ता अलसाई और धीरे-धीरे नयन मुंद कर निद्रा देवी की गोद में सो गई। मैंने सतर्कता से प्रासाद के समस्त द्वार एवं वातायन व्यवस्थित कर पलंग पर करवट बदली। मैं जागता हुआ सोता रहा।

रात्रि का राज्य बढ़ता जा रहा था, सन्नाटे का प्रवाह अपार था। निःस्तब्धता निर्णिता बन राजपथों का निरीक्षण कर रही थी। गली मुहल्लों के सर्वेक्षण में सजग थी। कभी प्रहरियों की पदध्वनि प्रस्फुटित होती, कभी अश्वों की हिनहिनाहट उभरती, कदाचित हाथियों की चिंघाड़ गरजती और कभी वृक्षों के पत्तों के साथ पक्षियों का आकस्मिक कोलाहल सुनाई पड़ता। शयनगृह के रत्नदीपक मंद-मंद प्रकाश बिखेर रहे थे। ऋषिदत्ता निद्राधीन थी, उसके कभी-कभी मेरी ओर प्रसारित होते थे। उसके मुख पर प्रसन्नता छायी हुई थी। मुझे आश्रम की स्मृति हो आयी। राजर्षि स्मृतिपथ में आ गये। उनकी

की हुई बातें याद आ गईं। भूतकाल की वे स्मृतियां....उन स्मृतियों का सुखद स्पर्श मुझे प्रसन्न करता था ...मध्यरात्रि का समय था ... निद्रादेवी के पास में मैं भी उलझ गया। जगा तब प्रातःकालीन शोभा को आंखों से निहारा। हृदय शंका से चूर-चूर बनता जा रहा था। रात्रि में न मालूम मैंने कितने जीवनदृश्यों को आंख और मनके परदे पर उतारे! कभी आश्रमों की स्मृतियों का चित्र! कभी राजर्षि की याद तथा कभी निद्रा की निःशंकता प्रभात की पावन वेला में मैंने उठकर ऋषिदत्ता का मुख देखने का प्रयास किया तो हृदय ठिठुर गया, बुद्धि जड़ बन गई, शरीर के रोम-रोम आतंकित हो कर उछल पड़े। वे ही खून के दाग मुखमण्डल पर पड़े हुए थे, मांस के टुकड़े तकिये के पास बिखरे हुए थे। मैंने ऋषिदत्ता को जगाया, मुख को धुलवाया, मांस के टुकड़ों को नाली में फेंकवाया और शयनकक्ष से मैं बाहर निकला तो वही समाचार पुनः मिला कि "नगरी में हत्या हो गई है।"

ऋषिदत्ता नित्य नियमानुसार घर-गृहस्थी के कार्यों में लीन हो गई। मेरी माता की अध्यक्षता में वह गार्हस्थ्य का शिक्षण लेती हुई पारिवारिक दायित्व का दाक्षिण्य निभा रही थी। मैं भी पिताजी की सेवा में सहयोग में एवं सहकार में लग गया। पिताजी चिन्तित होकर चुप्पी साधे हुए गुप्तचरों की वनाचवलि पर विचारों में खोये हुए प्रवृत्ती और प्रकृति से कुण्ठित होते जा रहे थे। मैंने पितृवात्सल्य के प्रभाव से गद्‌गद्‌ होकर पिताजी को प्रणाम कर कहा : 'पिताजी, चिन्ता छोड़िए। अवश्य ही कोमल बालक की हत्या से यह अशान्ति जन्मी है पर हम निरुपाय हैं, हत्यारा अभीतक कैसे लुकछिप कर इस प्रकार का भारी हत्याकाण्ड चला रहा है? आप उठिए और नित्यकर्म में लीन हो जाइए। भवितव्यता सदा बलवती है।'

पिताजी ने श्वासं को छोड़ते हुए उठकर मुझे कहा 'बेटा, प्रजा मेरी प्रिय सन्तान है, उसकी सुरक्षा का दायित्व मेरे कन्धों पर है। अतः मैं स्वयं प्रहरी बन सुरक्षा का गौरव चमकाऊंगा। प्रजाजन की पीड़ा मेरी पीड़ा है, उनका कार्य मेरा कार्य है। रोती बिलखती प्रजा के आंसू मैं कैसे देख सकता हूँ ?' इतना कहकर पिताजी स्वयं भारीमना बन नमनों को सहलाते हुए चल दिए और इस प्रकार मेरे परिवार में हत्या की झलक दुःख दर्दमयी बन गई। जन्मदात्री जननी भी म्लान म्लान बनी हुई पिताजी के दैनिक कार्यों में सहयोग देती हुई कठिनता से पिताजी को दुग्ध पिलाने का प्रयास कर रही थी। पयःपान से निवृत्त होकर पिताजी ने मन्त्रणालय में जाने की इच्छा व्यक्त की। मैं पिताजी के साथ साथ मन्त्रणालय में पहुँचा।

मन्त्रणालय, मन्त्रियों की उपस्थिति से सेनापतियों की सुरक्षा से और गुप्तचर विभाग के नायकों से ठसा-ठस भरा हुआ था। सभी ने खड़े होकर अभिवादन किया। पिताजी सिंहासन पर विराजमान हुए सर्वत्र शान्ति का वातावरण छाया था। पारस्परिक वार्तालाप बन्द था। सभी के मुख पर हर्षिता मिटी हुई थी। मैंने मौनता तोड़ते हुए महामात्य को कहा—महा मान्यवर, इस प्रकार हताश होकर आप जैसे सचोट अनुभवी व्यक्ति ठीक ठीक मार्ग-दर्शन देने का कर्तव्य नहीं निभायेंगे तो राजनीति का दृश्य और ही कुछ हो जाएगा।'

वयोवृद्ध महामंत्री ने उठकर मेरे सामने देखते हुए, पिताजी को निहारते हुए, सारी सभा पर दृष्टि दौड़ाई और कहा—'यह हत्यारा कोई मानवसंतान नहीं है। सम्भव है कि कोई पिशाच असुर दैत्य या दानव हो।'

मैंने कहा–'किस प्रयोजन से वह हत्यारा हत्या करने में कुण्ठित नहीं हो रहा है ?'

राजकुमार ! स्वयं की दुष्ट वासना को पूर्ण करने के लिए आसुरी तत्त्व सदा से सजग रहता आया है।'

मैंने कहा—'निर्दोष मनुष्यों की निर्दय हत्या ?' महामात्य ने कहा : वासनाग्रस्त जीव सदोष-निर्दोष का विवेक नहीं रखते हैं।

'परन्तु आपका यह निर्णय किस आधार पर अवलम्बित है ?'

'गुप्तचर विभाग से उपलब्ध विज्ञप्ति के अनुसार।'

'अर्थात् ?'

'यदि कोई हत्यारा मानव होता तो गुप्तचर दल पकड़ लेता। कोई पकड़ा नहीं जाता है अतः यही समझना चाहिए कि हत्यारा असुर ही है।'

यदि आसुरी तत्त्व है तो हमको क्या करना चाहिए ?

'आसुरी तत्त्व की प्रतिक्रिया दैवीतत्त्व के पास रही हुई है, मानवीय बुद्धिबल वहां पर स्थगित रहता है।'

'यह दैवी तत्त्व कहां से लाना ?'

'यह भी प्राप्त किया जा सकता है।'

'कहां से ?'

'इसी लोक में दैवी शक्ति को हस्तगत किया जा सकता है।' इस प्रकार महामन्त्री ने अपनी लम्बी सफेद दाढ़ी पर बारम्बार हाथ घुमाते हुए अपने दिव्य नेत्रों में तेजोमयी ज्योति प्रकट करते हुए कहा।

मैं इस प्रकार मन में सोच रहा था कि ऋषिदत्ता की शय्या पर मांस के टुकड़े डालने वाला कोई जन्मान्तर का शत्रु है, जो शात्रवी भावना से इस जन्म में ऋषिदत्ता को पीड़ित करने पर तुला हुआ हो। वैरविपाक का ही यह दृश्य हो सकता है।

'राजकुमार, मैंने जीवन में आसुरी बल के सामने दैवी-बल को लड़ते देखा है। साथ में विजय प्राप्त करते भी देखा है। आसुरी शक्ति मनुष्यों को हानि भी पहुँचाती है। तीन तीन हत्याओं का यही कारण है। मैंने स्वयं ने रात्रि में घूम-घूमकर गुप्तचर विभाग का कार्य टटोला है। इस हत्याकाण्ड में मानवीय-बल का अभाव है।

पिताजी ने मेरे सामने देखा। मानो मुझे उपालम्भ देते हुए मौन भाषा में यह कह रहे थे, 'राजमहल में आराम करने से प्रजापालन और प्रजा-रक्षण अशक्य है।

मैंने महामन्त्री से पूछा —'क्या आसुरी बल किसी मनुष्य में उत्पन्न होता है। और वह हत्या करने के लिए तय्यार हो जाता है?' अथवा आसुरी तत्त्व स्वतंत्र होकर यह हत्या करता है?

महामन्त्री बोले : दोनों बातें हो सकती हैं। आसुरी शक्तिवाला मनुष्य अदृश्य होकर हत्या कर लेता है जो हमारी दृष्टि में आ नहीं सकता।

'आपके कथनानुसार कोई आसुरी तत्त्व अज्ञात बनकर अदृश्य होकर यह हत्याकाण्ड चला रहा है।'

महामंत्री ने दृढ़ता से कहा : 'मेरी यह सम्भावना है।' इस तरह मेरे शयनकक्ष की घटना का समाधान स्वतः ही सुलझता जा रहा था।

'अब इस हत्या को रोकने का उपाय क्या है ?' मैंने पूछा। महामात्य बोले : 'हम लोगों के पास नहीं है राजकुमार, ये उपाय योगी पुरुषों के पास, साधु सन्यासियों के हाथों में है। वे लोग दैवी शक्ति के उपासक होते हैं।' मन्त्रसिद्धियों का इनके पास भण्डार होता है।

'ऐसे महापुरुष कहां मिल सकते हैं ?'

'अपने नगर में भी सुलभ हो सकते हैं।' इस प्रकार बातचीत करते मुझे अपार आश्चर्य हुआ। अपनी नगरी की प्रजा साधु-सन्तों की सेवा-भक्ति में तत्पर रहती है इसलिए योगीजन यहां सुलभ हो सकते हैं। पिताजी ने मेरी तरफ देखा। प्रेमपूर्वक महामात्य की वार्ता सुनी और मुझे कहा :

'कुमार, महामात्य की संभावना सच्ची हो सकती है। इस प्रकार की घटनाएं मुझे भी देखने का अवसर मिला है। इस उपद्रव को शान्त करने में योगी समर्थ हो सकते हैं। साधुपुरुष तो मोक्षमार्ग के प्रणेता होते हैं, इसलिए ऐसे कार्यों में नहीं उलझते हैं।

योगी पुरुष भी दो प्रकार के होते हैं, एक तो मात्र आत्म स्वरूप के आनन्द में रमण करने वाले एवं श्री जिनेश्वर के शुद्ध मार्ग में चलने वाले मोक्षाभिलाषी। ये लोग दैवी शक्ति में, चमत्कारी बातों में गिरते नहीं हैं। दूसरे जो शक्तिमार्ग के उपासक होते हैं वे दैवी शक्ति संग्राहक बनते हैं तथा आसुरी शक्ति भी संकलित कर लेते हैं।

मैंने पिताजी को आग्रह किया कि : हम भी ऐसे योगीजनों को बुलाकर नगर में शान्ति की स्थापना करें।

पिताजी ने महामात्यों को ऐसे कुछ पुरुषों की खोज करने की आज्ञा दी और सभा का विसर्जन किया।

१०.

सारे नगर में ढिंढोरा पिटवाया गया कि 'राज्य में रहने वाले तमाम योगी, साधु-सन्यासी, मंत्र-तंत्र के जानकारों को आज यथा समय राजसभा में उपस्थित होने के लिये राजा हेमरथ ने विनती की है।' केवल मोक्षमार्ग के आराधक श्रमणों को नहीं बुलवाया गया। करीबन सो जितने योगी, सन्यासी वगैरह आये। सभी को योग्य आसन पर बिठलाया गया।

पिताजी ने सभी को लक्ष्य कर के कहा :

'आप सब को मालूम ही है कि पिछले तीन दिनों से अपने नगर में रोजाना एक मनुष्य की हत्या होती है। उस हत्या करने वाले खूनी को पकड़ने के लिये मेरे सैनिकों व गुप्तचरों ने शक्य इतनी तमाम कोशिश की है, पर उनकी कोशिशें नाकाम रही हैं....खूनी का अता पता भी नहीं लग पाया है। मुझे लगता है यह किसी मानवी का कृत्य नहीं हो सकता। इस घटना के पीछे कोई आसुरी ताकत कार्य कर रही है.... या वो करवा रही है। उस आसुरी ताकत पर देवी शक्ति ही विजय पा सकती है। आप सभी योगी सन्यासी आसुरी

व देवी शक्ति के उपासक हैं....आप इस उपद्रव को दूर करके राज्य को इस आफत से बचाइये।'

इतना कहकर पिताजी ने महामंत्री की ओर देखा। महामंत्री ने अपने स्थान पर खड़े होकर उपस्थित योगियों को सम्बोधित करते हुए कहा : 'आपके सबके लिये यह तो बड़ा ही सुन्दर मौका है। आप अपनी चमत्कार शक्तियों के महाराजा को सन्तुष्ट कर सकते हैं... प्रजा को निर्भय व सुरक्षित कर सकते हैं। यह अवसर है चमत्कार दिखाने का। जिनके भी पास देवी शक्ति हो वे आगे आयें....एवं अपनी शक्ति का परचा दिखायें।'

समूची राजसभा सनसनाहट की गिरफ्त में जकड़ गयी थी। हरएक जोगी-बाबा एक दूजे का मुँह ताकने लगे। मंत्र तंत्र की सुनहरी बातें करने वाले....देवी शक्ति की डींगे हांकने वाले....जादू टोने के माध्यम से प्रजा को ठगने वाले....सभी के चेहरे पर हवाईयां उड़ने लगी....पिताजी का गुस्सा उफन रहा था :

'ये क्या ? तुम सब चुप क्यों बैठ गये ? क्या तुम में कोई भी सचमुच की दिव्य शक्ति का मालिक नहीं है तो फिर क्या मैं यह मान लूं कि तुम सब मेरी भोली प्रजा को मंत्र-तंत्र के नाम पर लूट रहे हो..! अपना उल्लु सिद्ध कर रहे हो ? मेरे राज्य में तुम क्यों डेरा डाले बैठे हो ? खाने-पीने और सोनें के लिये ? यदि तुम मेरा इतना छोटा सा कार्य भी नहीं कर सकते तो तुम्हें यहां से चला जाना होगा। या तो अपनी ताकत का परचा बताओ वर्ना मैं तुम सबको निकाल दूंगा मेरे राज्य में से।'

सभी जोगी सन्यासियों के चेहरे श्याम हुए जा रहे थे। वे कुछ भी जवाब देने के लिये समर्थ नहीं थे...उनकी चुप्पी से

पिताजी की बोखलाहट ऊबल रही थी। उन्होंने कड़क कर महामंत्री से कहा :

'इन सबको अपने राज्य में से निकाल दो।'

महामंत्री ने पिताजी की आज्ञा का पालन किया। जैसे ही सभी जोगी-सन्यासी वगैरह राजसभा छोड़कर बाहर जाने लगे कि, एक जोगन ने सहसा राजसभा में प्रवेश किया। पिताजी को आशीर्वाद देकर उसने कहा :

'राजन्. आपने जिस बात के लिये इन सब जोगी....सन्यासी.... पीर....फकीरों को बुलवाया था....उसी बात का जवाब लेकर मैं आपके पास उपस्थित हुई हूं। नगर मे पिछले तीन दिन से रोजाना एक व्यक्ति की हत्या हो रही है. उन हत्याओं के हत्यारे का अता पता मुझे मिल गया है।'

पिताजी सिंहासन पर से खड़े हो गये। दो हाथ जोड़कर उन्होंने उस जोगन का अभिवादन स्वागत किया और कहा ;

'तुम सचमुच जानती हो उस हत्यारे को! बता दो मुझे, वह हत्यारा कौन है? और तुमने उसे जाना किस तरह?'

जोगन ने आंखें मूद ली और बोलने लगी ;

'महाराजा, आज रात को मैंने एक स्वप्न देखा था। स्वप्न में कोई देव मेरे पास आया और उसने मुझसे कहा : कल राजा नगर के साधु सन्यासी को राजसभा में बुलाकर नगर में हो रही हत्याओं के बारे में पूछेगा। कोई भी इस बात का जवाब नहीं दे सकेगा....तो राजा उन सबको राज्य में से निकाल देगा। इसलिए तु स्वयं राजसभा

में जाना और राजा से कहना कि रोजाना एक आदमी की हत्या करने वाली व्यक्ति आपके राजमहल में ही है। और वह है राजकुमार की सुन्दर दिखने वाली पत्नी! राजकुमार जिसे जंगल में से ले आये हैं.... वास्तव में वो जंगल की डायन है। इन सब साधु सन्यासियों को आप अपमानित ना करें जबकि दोषी अन्य है...।'

पिताजी यह सुनकर तमतमा उठे....उन्होने सन्देह की निगाहों से मेरी ओर देखा....मेरा शरीर गुस्से में कांप रहा था....मेरा हाथ मेरी कमर में लटकती तलवार पर गया था....इतने में उस जोगन ने कहा :

'महाराजा, एक और बात मैं आपसे करना चाहती हूं....पर अकेले में और आप ही से।' पिताजी ने मेरे सामने देखा। मैं खड़ा होकर राजसभा से बाहर निकल गया....मेरे पीछे पीछे महामंत्री. सेनापति वगैरह बाहर निकल आये। मेरा मन अत्यन्त खिन्न हुआ जा रहा था। मैं वहां से सीधे ही राजमहल में चला गया। मुझे तत्काल ऋषि से मिलना जरूरी था। जोगन की कही बात उससे करनी जरूरी थी। ऋषिदत्ता शयन खण्ड में मेरी राह देखती हुई बैठी थी।

मैं जाकर सीधे ही पलंग पर ढेर हो गया। ऋषि घबरा उठी। मेरे सर पर अपना हाथ रखते हुए बोली 'स्वामिन्, आज इतने व्यथित क्यों है ?'

मैं उससे क्या कहुं ? आंखे मूंद कर....मैं कुछ भी बोले बगैर लेटा रहा....

ऋषिदत्ता ने मुझसे बोलने के लिये आग्रह किया पर जिद न की। उसकी आंखों में आंसू छल छलाने लगे। उसका दिल विषाद से

डूब गया....मैंने उसकी ओर देखा। अपने उत्तरीय वस्त्र से उसकी आंखों के आंसू पोंछे और कहा :

'ऋषि, तेरा बतलाया हुआ कर्म का सिद्धान्त मुझे सही प्रतीत होता है ...' उसने चुपचाप मेरी तरफ देखा। वो कुछ भी बोली नहीं।

'आज मुझे लगता है कि मनुष्य को अच्छे बुरे कर्मों का फल भोगना तो पड़ता ही है....आदमी चाहे दुःख से बचने का प्रयत्न करें....पर जब उसके पापकर्म उदय में आते हैं तब उसे दुःख तो भोगना ही पड़ता है!'

मैं बोल रहा था, ऋषिदत्ता सुन रही थी, पर शायद वो इस कोरे तत्वज्ञान से इस समय आश्वस्त नहीं थी....उसे राजसभा की घटना को जानने की इन्तजारी होगी....ऐसा मुझे लगा। पर मैं उसे राजसभा की घटना बताऊं भी तो किस ढंग से? फिर भी उसकी जिज्ञासा को संतुष्ट करने के लिये विवश होकर राज्यसभा की घटना सुनाना प्रारंभ की।

'ऋषि, आज राजसभा में सो जितने बाबा-जोगी-संन्यासी वगैरह एकत्र हुए थे। सभी बड़ी सज-धज के साथ आये थे। नगर में हो रही हत्या के बारे में सभी का यही मत था कि यह कृत्य मानवीय नहीं अपितु आसुरी है पर कोई भी इसका निवारण का न तो उपाय कर सका नहीं कोई रास्ता बताने का वादा कर सका। सभी ने जब हाथ झटक दिये तो पिताजी का गुस्सा होना स्वाभाविक था। उन्होंने महामन्त्री को आज्ञा दे दी सभी बाबा-जोगी को राज्य से निकाल देने के लिये।' ऋषिदत्ता मेरे काफी निकट सरक आयी थी। सारी बात वो बड़ी उत्सुकता के साथ सुन रही थी।

मेरे मन में भी पिछले दो दिन से यही आशंका थी कि यह घिनौना कार्य किसी मानवी का नहीं हो सकता....चलो मान लें कि मानवी ने हत्या कर दी....पर वो मेरे शयनगृह में किस तरह आ सकता है ? और तेरे चेहरे पर खून के दाग लगाना... तकिये के नीचे मांस के टुकड़े रख जाना .. यह सब किसी आसुरी शक्ति का कृत्य है....इसके पीछे मानवहत्या तो बहाना है....चूंकी यह घिनौना कृत्य करने वाला काफी होशियार है....वह तुझे बदनाम करना चाहता है.... तुझे दुःखी करने का इरादा हो सकता है उसका !

ऋषिदत्ता की देह कांप रही थी। मैंने उसकी पीठ पर हाथ सहलाते हुए कहा :

'ऋषि, तु चिन्ता मत करना....मैं हर कोशिश करूंगा उस मायावी शक्ति का प्रतिकार करने के लिए। राजसभा में आई एक संन्यासिनी ने पिताजी से उसको आये स्वप्न की बात करते हुए हत्या करने का इल्जाम तेरे पर मढा है....मैं नहीं मानता....कि पिताजी उस अनजान संन्यासिनी पर विश्वास कर ले। अरे....कोई भी इस बात को नहीं मान सकता ! मुझे तो उसी समय इतना गुस्सा आ गया था कि तलवार से उसी वक्त उस जोगन का सर काट दूं ! पर पिताजी की मर्यादा ने मुझे बरबस रोक दिया। राज्यसभा की गरिमा का भी सवाल था।

ऋषिदत्ता अपलक आंखों से मेरी ओर ताक रही थी हालांकि उसके दिल में मेरे प्रति पूरा भरोसा था कि मैं किसी भी हालत में उसका त्याग नहीं करूंगा....उसे पूरी तसल्ली थी मेरे बारे में। उसने मुझे प्रेम के स्वर में कहा :

गत जन्म में मैंने बांधा हुआ कोई पाप कर्म उदय में आया है। आप क्या करेंगे इसमें ? मेरे लिये आप दुःखी मत होना। मेरा किया कर्म मैं भुगतलुंगी....बोलते-बोलते तो वो रो पड़ी ! मैंने उसे काफी ढाढस बंधाया....उसने दो हाथों में अपना चेहरा छुपाते हुए कहा :

'आज मैं मां के पास नहीं जाऊंगी....'

'ठीक है, अपन आज यही पर भोजन कर लेंगे।'

'क्यों ? मेरे साथ भोजन क्यों नहीं ?' कहती हुई मां ने स्वयं अचानक मेरे खंड में प्रवेश किया।

मैं और ऋषि खड़े हो गये। मां ने बैठते हुए ऋषि को अपनी ओर खींचा। उसके सर पर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगी। मां के चेहरे पर ग्लानि व चिंता की रेखाएं उभर रहीं थी। मैं पश्चिम की बारी में खड़ा-खड़ा नगर की ओर निहार रहा था। मेरा मन अस्वस्थ था। पिताजी मुझे बुलायेंगे और ऋषिदत्ता के बारे में सवाल करेंगे, ऐसी मेरी धारणा थी। पिताजी कौन कौन से सवाल पूछेंगे और उसके मैं क्या जवाब दूंगा, इस के विचार भी मेरे मन में रह रह कर उभर रहे थे। उस जोगन ने पिताजी से अकेले में क्या बात की होगी....इसके बारे में मेरा मन तरह-तरह के अनुमान कर रहा था।

उस जोगन ने ऋषिदत्ता को 'डायन' कहा, नगरजनों की हत्या की जिम्मेवारी बतलायी, उसने मेरे शयनकक्ष में बनती घटना भी पिताजी से क्यों नहीं कही होगी ? जरूर कही ही होगी ? क्या यह जोगिनी स्वयं षड्यंत्र की सूत्रधार होगी ? परन्तु मुझे यह समझ में नहीं आ रहा था कि इस जोगन को ऋषिदत्ता से द्वेष क्यों ? मैं मेरे

शयनकक्ष में इधर से उधर टहल रहा था। दिमाग पूरी तरह विचारों के बहाव में बह रहा था।

राजसभा में जोगन ने जो बात की थी, वह बात शायद मेरी मां के पास पहुँच चूकी होगी....इसलिए ही मेरी मां खंड में दौड़ आयी थी। उसके मन में ऋषिदत्ता के प्रति अपार वात्सल्य था। ऋषिदत्ता और डायन ?' यह बात किसी भी नगरवासी के दिमाग में या किसी भी राजपुरुष के जेहन में उतर नहीं सकती थी, फिर मां के मन में इस बात के प्रवेश करने का सवाल ही कहाँ था !

मां ने हम दोनों के लिए शाम का भोजन मेरे खंड में ही मंगवा लिया था। ....मेरी या ऋषि की तनिक भी इच्छा नहीं थी भोजन करने की....फिर भी मां के आग्रह को हम नकार न सके। मां ने समीप बैठकर बड़े प्रेम से हमें खाना खिलाया। हमने थोड़ा कुछ खाया मां को आश्वस्त करके विदा की। मां की आंखों में आंसुओं की बदली तैर रही थी।

मां के जाने के कुछ ही क्षण बीते कि पिताजी का बुलावा आ गया। ऋषिदत्ता को शयनखंड में निश्चित होकर रहने का कहकर मैं पिताजी के पास पहुँचा। पिताजी पलंग में आंखे मूंद कर सोये हुए थे। मैं उनके पास पड़े हुए एक भद्रासन पर शांति से बैठ गया। कुछ देर बाद पिताजी ने आंखें खोली, मेरे सामने विचित्र निगाहों से देखा। वे धीमे स्वर में मुझ से बोले।

'कनकरथ, आज मेरी तबीयत ठीक नहीं है....'

'राजवैद्य को बुलावा भेजूं, पिताजी ?'

नहीं, बेटे अभी बुलाने की आवश्यकता नहीं है...जरूरत होगी तब बुला लेंगे....पर आज रात तु मेरे पास सोना.... शायद रात को तबीयत ज्यादा खराब हो जाये तो ?'

मेरे मन में धुकधुकी फैल गयी....मैंने पिताजी से फिर से कहा ?

पिताजी, यदि ऐसा लगता हो तो अभी ही वैद्यराज को बुला लाऊं। अभी आप दवाई ले लें .. फिर रात को तबीयत ज्यादा बिगड़ने की संभावना न रहे।'

'ठीक है...वैद्यराज को अभी बुलवा लें....परन्तु आज रात को तुझे मेरे पास ही सोना पडेगा। मेरी तबीयत मुझे अच्छी नहीं लगती है....शायद रात को कुछ हो जाय !'

मैं मौन रहा एवं वैद्यराज को बुलवा लाने के लिये नोकर को रवाना किया। मेरे में भारी कशमकश पैदा हो गयी....'पिताजी मुझे उनके पास सोने के लिये आग्रह कर रहे हैं....इसका कारण उनकी अस्वस्थ तबीयत नहीं है अपितु ऋषिदत्ता है।'

यह बात समझने में मुझे देर नहीं लगी। पिताजी की तबियत तो कई बार बिगड़ी है....परन्तु कभी उन्होंने मुझे उनके पास नहीं सुलाया... मां ही सब कुछ सेवा वगैरह करती थी।

"मैं यदि पिताजी के पास यहां सो जाऊं तो सुबह तड़के ही ऋषिदत्ता का खून से सना चेहरा....मांस के टुकड़े....यह सब साफ कौन करेगा ? और वो खुद तो जल्दी उठ नहीं सकती....किसी परिचारिका की नजरों में यह सब यदि आ गया तो ?" इस कल्पना से मैं सिहर उठा। यदि खून से सने चेहरे वाली ऋषिदत्ता को कोई देख ले

तो 'वह 'डायन' है' यह इल्जाम सच हो जाये। उसका अंजाम कितना भयंकर आ सकता है....मेरा सर चकराने लगा....दिमाग कसकने लगा.... मैं खड़ा हुआ....झरोखे में आकर खड़ा हुआ। अंधेरी रात के चादर तले पूरा नगर सिमटा जा रहा था। दीयों का टिमटिमाना नजर आ रहा था।

वैद्यराज ने आकर पिताजी को जांच और दवाई देकर 'सुबह में ठीक हो जायेगा' कहकर वे चले गये....मेरा मन पुकार उठा....'सुबह मेरा सब कुछ बिगड़ जायेगा!' मेरे मुँह में से 'हाय' निकली।

पलभर मेरे दिमाग में विचार कौंधा कि मैं पिताजी से कह दूं। मैं आपके पास नहीं सो सकता""ऋषि अकेली नही सो सकेगी' पर उसका जवाब तो शायद पिताजी यही दे देते 'ऋषिदत्ता अकेली नहीं सो सकती तो तेरी मां के पास सो जायेगी ...' फिर मैं क्या जवाब देता?

पिताजी तो कुछ बोल नहीं रहे थे....वे आंखें मूंदकर लेटे हुए थे। मैंने ऋषिदत्ता से कहकर आने का सोचा वो सावधान रहे सुबह वह जल्दी उठकर स्वयं अपना चेहरा धो दे....और मांस के टुकड़े नाली में डाल दे।

मैं धीरे से खड़ा हुआ....पिताजी के खंड में से बाहर निकला ही था कि पिताजी की आवाज आयी: 'कनकरथ, वापस जल्दी लौट आना।'

'अच्छा, पिताजी।' कहकर मैं अपने शयनखंड में पहुँच गया। ऋषिदत्ता झरोखे में खड़ी खड़ी दूर दूर आकाश की ओर निहार रही थी। उसके मन में क्या-क्या विचार उठ रहे होंगे....वो सोच रही होगी

'मैं मुक्त कानन की पंछी ! और कहां इस सोने के पिंजरे में फंस गयी' क्या उसे अनंत आकाश में उड़ उड़ जाने के विचार आते हुये ? क्या उसे इस समय उसके प्यारे प्यारे पिता की याद आ रही होगी...? वह आश्रम...वह जिनालय....हिरन, हिरनी...वन्य पशु.. वह मुक्त जीवन यह सब उसे शायद बुला रहा होगा....'चली आ...ऋषि, यहां ! तेरे लिए तो यहीं महल है....यहीं स्वर्ग है...उस राजमहल के सुख तेरे बस का रोग नहीं...वो सब इन्द्रजाल है....माया मरीचिका के सुख हैं... भ्रमणा है...'

मैं उसके पीछे जाकर खड़ा रहा...मेरे मुंह में से 'आह' निकली कि ऋषि ने चौंक कर पीछे देखा....और वो मुझसे लिपट गयी...मैंने उसका सर सहलाया।

'ऋषि, आज मुझे पिताजी के पास सोना होगा। तुझे अकेली को ही इस शयनगृह में आज रात बीतानी होगी...और तो कुछ डर नहीं है...बस, सावधान रहना ! सुबह जल्दी उठकर तु खुद अपना मुंह धो लेना...और मांस के टुकड़ों को नाली में डाल देना। इसमें तनिक भी गफलत मत करना।'

'आज क्यों आप वहां सोयेंगे ?'

'पिताजी ने आज्ञा की है...मना करूं भी कैसे ? मना कर दूं तो उनका सन्देह और पक्का हो जाये !'

ऋषिदत्ता कुछ भी नहीं बोली। कटे वृक्ष की डाली की भांति पलंग में औंधा गिरकर फफकने लगी....उसकी पीठ सहलाता हुआ मैं कुछ देर तक वहां बैठा रहा...और रात्रि का पहला प्रहर पूरा होते ही

लड़खड़ाये कदमों से शयनगृह के बाहर निकला। जैसे मेरा सारा संसार मुझसे बिछुड़ रहा था। कुछ अनहोनी की आशंका मेरे दिलो दिमाग पर बूरी तरह सवार थी...पर मैं करता भी क्या ?

कभी कभी ऐसा वक्त भी जिन्दगी में आता है...आदमी अपने आपको कितना असहाय महसूस करता है। जैसे समय के हाथों बिकी हुई विवश कहानी के अलावा मेरी जिन्दगी कुछ थी ही नहीं !

११.

मैं पिताजी के शयनखंड में सो गया। परन्तु मैं सारी रात जगता ही रहा। मुझे नींद आये भी तो कैसे? मुझे प्रतिपल ऋषिदत्ता की चिंता सता रही थी। रात के अंतिमप्र हर में जरासी झपकी आ गई...सुबह जब मैं जगा....आकाश पूरा बादलों से ढंक गया था। वातावरण में ऊदासी थी....घुटन थी। अभी तो मैं पिताजी के शयन-कक्ष में ही था, इतने में दो नगररक्षकों ने आकर पिताजी को समाचार दिये।

'महाराजा, आज रात को भी एक आदमी की हत्या हो गई है....' पिताजी के चेहरे पर रोष एवं उद्वेग फैल गया। वे कुछ बोले नहीं। नगररक्षक प्रणाम करके चले गये।

कुछ देर हुई कि दो गुप्तचरों ने आकर पिताजी को प्रणाम किया और कहा :

'महाराजा, हमने राजकुमार के शयनखंड में रात के अंतिम प्रहर में आकर अवलोकन किया। आपकी सूचना के मुताबिक, बड़ी

सावधानी से युवराज्ञी का चेहरा देखा। उस पर खून के दाग थे और तकिये के पास मांस के टुकड़े भी पड़े हुए थे।

गुप्तचरा की बातें सुनकर स्तब्ध रह गया। मेरी आशंका सच हुई। पिताजी का प्रतिक्रिया के बारे में भी मेरी कल्पना सच होने का अंदेशा मुझे लग गया। पिताजी ने मेरी ओर देखा उनका शरीर गुस्से के मारे कांप रहा था। उनकी आंखों में खौफ के शोले दहक रहे थे.... उन्होंने करीब-करीब चिल्लाते हुए मुझ से कहा :

'तूने मेरे कुल को कलंकित किया है....तू जानता है कि ऋषिदत्ता डायन है ...फिर भी तूने यह बात तक मुझ से नही की। रोजाना नगर में एक नागरिक की हत्या होती है....रोज वो डायन मेरी प्रजा का खून पी रही है....मांस खा रही है....फिर तू उसे पाल रहा है....प्रेम कर रहा है...:रोज तू उसका मुँह खून से पुता देखता है या नहीं ? रोज उसके तकिये के पास मास के टुकड़े पड़े हुए तु देखता है या नही ? बोर, सच बोल....!'

पिताजी इतने जोर से और गुस्से में बोल रहे थे कि बोलते-बोलते वे हाँफ रहे थे....वे उनके पलंग पर बैठे थे, मैं मेरे पलंग पर बैठा था। मैंने एकदम नम्रता से कहा :

'मुझे यह कोई बड़ा षडयंत्र लग रहा है....ऋषिदत्ता को कलंकित करने के लिये यह सब हो रहा है ..मैं नहीं मानता कि वो डायन या राक्षसी हो।'

'तो फिर उसके चेहरे पर खून के दाग कहां से लगते हैं ? मांस के टुकड़े कहां से आते हैं ? नगर में हत्याएं कौन करता है ?' पिताजी आपे से बाहर हो रहे थे।

'वह मैं नहीं जानता, पिताजी ! वह रहस्य अभी खुल नहीं रहा है....ऋषिदत्ता को, मैं जब उसके आश्रम में था तब से देखता आ रहा हूँ....वो एक राजर्षि की बेटी है....वो डायन हो नहीं सकती ! वो राक्षसी नहीं हो सकती !'

मैंने पूरी दृढ़ता से ऋषिदत्ता के लिये सफाई पेश की। पर पिताजी कहां कुछ सुनने के लिये तैयार थे ? उनका गुस्सा और ज्यादा खौल उठा :

तूं उसके मोह में पागल हो गया है....उसके रूप में अंधा हो बैठा है ! इतने साफ-साफ सबूत होने पर भी तू मान नहीं रहा है ? तूं चला जा यहां से ! मेरे सामने से दूर हो जा ! मैं तेरा काला मुंह नहीं देखना चाहता ! निकल जा यहां से !'

मैं तुरन्त खड़ा हुआ। शयनगृह में से बाहर निकल कर सीधे ही मेरे शयनखंड में पहुंच गया। ऋषिदता पलंग में औंधी पड़ी हुई थी....सिसकियां भर-भर कर वो रो रही थी....उसकी आंखें सूज गई थी....मैंने जाकर उसे आवाज दी !

'ऋषि !'

मेरी आवाज सुनते ही वो सहसा खड़ी हो गई....और मुझसे लिपट गई....उसका करुण रुदन मेरे दिल में तीव्र वेदना पैदा कर रहा था....मैंने उसको सहारा देते हुए कहा :

'ऋषि, चल अपन इस महल को छोड़ कर चल दें....अपन को इस महल में....इस राज्य में नहीं रहना है....'

इतने में तो पिताजी स्वयं मेरे शयनखंड में आ पहुँचे और चिल्लाये : 'कहां जाना है तुम्हें ? तुझे कहीं भी नहीं जाना है....एक ओर खड़ा होजा .. छोड़ दे इस राक्षसी को....मैं उसे आज जल्लादों के हाथ सौंप दूंगा....श्मशान में उसका वध होगा।'

'तो फिर पिताजी, आप भी कान खोलकर सुन लो....तुम्हारा पुत्र भी प्राणत्याग करेगा....' और मैंने मेरी कटारी खींच निकाली.... इतने में मेरी मां शयनगृह में से दौड़ आयी और मुझ को पकड़ लिया ! मेरे हाथ में से तलवार छीन ली वो हाँफ रही थी। पिताजी के सामने देखकर मां बोली :

'यह आप क्या कर रहे हैं....? आप किसे राक्षसी कह रहे हैं....?'

'इस तेरी लाड़ली पुत्रवधू को ! बोल, तुझे क्या कहना है ? रोजाना एक नगरवासी की हत्या करके खून पीती है....और मांस की महफिल उडाती है....और यह तेरा लाड़ला जानते हुए भी इस डायन को पाल रहा है . प्रेम कर रहा है....'

'ठीक है....वो राक्षसी हो....डायन हो . हम चले जाते है आपका राज्य छोड़कर....मैंने ऋषिदत्ता के पास जाकर उसका हाथ पकड़ा....इतने में पिताजी ने ऋषिदत्ता की चोटी पकड़ी और उसे घसीटने लगे। सैनिकों ने मुझे पकड़ लिया....और पिताजी की आज्ञा से मुझे एक खम्भे के साथ बांध दिया।

मां....बिचारी मां...करुण कल्पान्त करती हुई...ऋषिदत्ता को छुड़वाने के लिये आगे बढ़ी....परन्तु पिताजी ने दहाड़कर उसे एक

धक्का लगा के कोने में धकेल दिया और ऋषिदत्ता को जल्लादों के हवाले कर के कहा :

'इस राक्षसी को सारे नगर में घूमाना, नगर में घोषित करना कि 'यह युवराजी राक्षसी है....इसने ही रोजाना नगर जनों की हत्या की है...नागरिक का खून पीया है.. मांस खाया है....' फिर इसे शमशान में ले जाकर मौत के घाट उतार देना।'

बस.. पिताजी के ये कठोर वाक्य मेरे कानों में गिरे....कि मैं होश गवां बैठा। मां भी बेहोश पड़ी हुई थी ! दूसरा करुणावान तो था भी कौन महल में ? बेचारे दास दासी तो पिताजी के सामने बोले भी क्या ? आंखों में से बरबस आंसू बरसाते रहे वे लोग, और हृदयविदारक रूदन करती ऋषिदत्ता को क्रूर जल्लाद राजमहल में से घसीट ले गये।

जब मैं होश में आया तब मैने अपने आप को मेरे शयनखंड के पलंग पर पाया। पास ही पिताजी बैठे हुए थे। दरवाजे पर सशस्त्र सैनिक पहरा दे रहे थे। मैंने आँखें खोलकर बंद कर दी। मेरा पूरा शरीर टूट रहा था...और बुखार से जल रहा था पिताजी ने पूछा :

'बेटे....पानी दूं ?' मैंने सर हिलाकर मना किया। मेरे मन की व्यथा मैं कहूं तो भी किसे ? किन शब्दों में कहूं ? पिताजी के प्रति मेरे दिल में भारी नफरत पैदा हो चुकी थी। राजमहल के सुखों के प्रति घोर नफरत हो चूकी थी...ऋषिदत्ता की स्मृति मुझे पल पल अस्वस्थ किये जा रही थी।

'ऋषिदत्ता...मैं तेरे पास आ रहा हूं....' यों चिल्लाते हुए मैं पलंग पर से खड़ा हो गया....पिताजी ने मेरे को पकड़ लिया और

जबरदस्ती वापस सुला दिया। तीन दिन तक मैंने न तो कुछ
नहीं कुछ पीया। पिताजी घबरा उठे। उन्होंने मेरी मां से कह
कुछ भी करके कुमार को मना....'

मां ने पिताजी को मेरे शयनखंड से बाहर भिजवा दि
द्वाररक्षकों को भी हटवा दिया। मां ने मेरे सर को अपनी गोद
उसकी आंखों से बरसते आंसुओं ने मेरे सर को भिगो दिया...
पड़ी फफक फफक कर। मैंने आखें खोली....मां सिसकियां भर
मेरे शरीर में बुखार था....मैंने अपने बुखार से तप्त दोनों हाथों
के आंसू पोंछे और धीरे स्वर में मैंने मां से कहा :

'तु रो मत मां! अब रोने से क्या फायदा?

'बेटे. अब रोने के अलावा और रखा भी क्या है जिन्द
मेरी देवी जैसी बहू....' मां ज्यादा बोल नहीं पायी। उसने
आंचल में मुंह छुपा लिया। मां ऋषिदत्ता को याद कर करके
रही थी...मैं ऋषिदत्ता की याद में सुलग रहा था....मेरी अ
रो रो कर सूज गई थीं। एक प्रहर तक मां बैठी रही....वो ए
शब्द नहीं बोली। आखिर उसने कहा :

'बेटा....क्या तू दूध या पानी भी नहीं लेगा।'

'अब क्यों दूध लूं? अब क्यों पानी पीऊं?' समीप खड़ी
वत्सा की प्रिय परिचारिका ने कुछ मेरी और झुकते हुए कहा :

'महाराजकुमार, तीन तीन दिन से मां ने भी न तो कुछ
है 'नहीं कुछ पीया है! आप कुछ लोगे फिर ही वो लेगी....अ
कि खातिर भी...'

'जैसे तूने खाना पीना लिया हो!' मां ने परिचारिका से पूछा, और मेरी ओर देखकर बोली : 'बेटा...इस वसंता ने भी तीन दिन से कुछ खाया पीया नहीं है!'

राजमहल के सभी दास दासियों में ऋषिदत्ता को वसंता बहुत प्रिय थी। वसंता को भी ऋषि से काफी गहरा लगाव था, यह मैं जानता था। मेरे से बोला नहीं जा रहा था...फिर भी मैंने वसंता से पूछा :

'वसंता, ऋषि को यहां से ले गये क्या तू भी साथ गयी थी?'

'मुझे कौन जाने दे साथ में, कुमार? पर फिर भी चोरी-छुपे से मैं गयी थी....नगर के बाहर....श्मशान के दरवाजे तक गयी थी।'

'उसे किस तरह ले गये वे जल्लाद लोग?' मैंने दूसरा सवाल किया।

यह बात मैं अभी नहीं कहूंगी....पहले आप पानी पीलें... दवाई लें....बाद में सारी बात आप से कहूंगी .. वर्ना नहीं!'

'हां बेटे तू पानी पी ले....दवाई ले....तुझे जो रुचे वह थोड़ा कुछ भी खा' मां का प्यार भरा हाथ मेरे चेहरे पर घूम रहा था। मां मेरी पीड़ा समझ सकती थी। मां के दिल में ऋषि का बेकसूर व्यक्तित्व यथावत् था।

'मां, उसका क्या हुआ होगा?'

'बेटा वो तो महासती सी नारी है....उसका धर्म जरूर उसकी रक्षा करेगा।'

'पर क्या मा, वो जिन्दा बची होगी ? उन क्रूर यमदूत जैसे जल्लादों ने उसको मार नही दिया होगा !'

मेरी कल्पना दृष्टि में विकराल आकृति वाले जल्लाद तैर आये ... ऋषिदत्ता के बाल खींच उसे घसीटते हुए।

मेरे मस्तिष्क की नसें खींची जा रही थी। शरीर में कसक उठ रही थी....मैंने करवट बदली और मां के दोनों हाथ लेकर अपने चेहरे पर ढांप दिये। मां ने बड़े ही प्यार से मुझे कहा :

'बेटा....थोड़ा पानी तो ले न !'

मुझे वसंता के शब्द याद आये 'आप पानी पीयेंगे.. दवाई लेंगे... दूध लेंगे .. फिर ही मैं आपको ऋषिदत्ता की बात करूंगी !' मैंने मां के हाथ से थोड़ा पानी पीया। मां को संतुष्टि हुई। मां ने वसंता को इशारा किया। वसंता शयन खंड में से बाहर चली गयी। कुछ ही देर में वो वापस लौटी तो उसके पीछे राजवैद्य भी अन्दर आये। माँ ने वैद्यराज का आदर करते हुए आसन दिया बैठने के लिये। वैद्यराज ने मेरा शरीर जांचना प्रारम्भ किया। शरीर को पूरी तरह जांचकर मां से कहा : ' कुछ मैं दवाईयां दे जाता हूं....चिंता का कोई कारण नहीं है... बस कुमार का मन प्रसन्न रखना... बुखार तो एक दो दिन में ही उतर जायेगा !'

वैधराज चले गये। मां ने मेरे लिये दूध तैय्यार रखा था। सोते सोते ही मुझे मां ने दूध पिलाया। कुछ ही देर में मुझे निद्रा आ गयी... जब मैं जगा तब रात का चतुर्थ प्रहर चल रहा था....मेरी स्मृति में सहसा ऋषि आ गयी .. पिछले तीन दिनों से रोजाना इस

समय मैं ऋषिदत्ता का खून से सना चेहरा साफ करता था....मांस के टुकड़े नाली में डाल देता था....और अन्तिम सुबह का दृश्य तो कितना भयावह था ! पिताजी ने उसके बाल खींचकर उसकी सुकोमल काया को घसीटा था....ओह ! कितनी क्रूरता थी....वह ! गरीब गाय जैसी ऋषि....तब कितनी डर गयी थी ? उसकी आंखें फटी फटी रह गयी थी....उसके मुंह में से दर्दनाक चीखें निकल रही थी....!!

मेरे मस्तिष्क की नसें कसकने लगी। मेरा मन गुस्से से बौखला उठा। वसंता ने मुझे जगा देखकर कहा :

'महाराजकुमार, तीन दिन से आपने स्नान नहीं किया है.... गरम पानी तय्यार है.. आप स्नान कर लें तो ? शरीर में स्फूर्ति महसूस होगी।'

मैं धीरे धीरे पलंग पर से खड़ा हुआ....स्नानागार में जाकर मैंने स्नान किया, वस्त्र परिवर्तन किये। शरीर कुछ स्वस्थ हुआ। बुखार तो उतर गया था। इधर सूरज भी उग निकला था। मां मेरे लिये खुद दूध लेकर आयी थी....मेरा मन बेचैन था....पर मां ने अत्यन्त आग्रह करके मुझे दूध पिलाया। दुग्धपान करके मैंने वसंता से कहा : 'अब तू मुझे बतला कि ऋषि के साथ क्या हुआ ? उन जल्लादों ने ऋषि का क्या किया ?'

वसंता मां के चरणों में बैठ गयी थी। मेरा प्रश्न सुनकर उसके मुंह पर गंभीरता....उदासीनता छा गयी....कुछ पल खामोश रह कर उसने कहा : 'राजकुमार आप नहीं सुन पायेंगे वह दर्दनाक वारदात ! आप सुनकर करेंगे क्या ? अच्छा होगा आप सुनने की जिद छोड़ दे !

आपके दिल को गहरी चोट लगेगी ! उन जालिमा जल्लादों ने युवराज्ञी को दु:ख देने में कोई कसर नहीं छोड़ी है !'

'नहीं नहीं...मैं सुनुंगा . जरूर सुनुंगा....उस निर्दोष.... बेगुनाह मासूम को कितना दुःख झेलना पड़ा.. वह मुझे जानना है....कभी किसी जनत में मिल जाय तो मैं उसको मांग सकु न ?'

'कुमार तो फिर मैं कहुंगी । जल्लाद युवराज्ञी को यहां से बाहर ले गये....उसके गले में नीम के पत्तों का हार पहनाया....उसकी पूरी देह पर काले....लाल रंग लगाये....उसके सर पर सात श्रीफल का तोरण सा बांधा . पैरों में घुंघरू बांधे....आगे-आगे ढोल बजाने वाले ढोली रखे गये । रास्ते में सनन उस पर कंकु बरसाया गया....इसी हालत में युवराज्ञी को पूरे शहर में घुमाया गया । नागरिकों में हाहाकार मच उठा, सभी की सांसे थम सी गयी ।

'ओह... अरर....महासती जैसी ऋषिदत्ता का यह क्या हुआ ? किस दुर्भागीं ने इस सन्नारी कों कलंकित किया ?' ऐसे शब्द स्पष्ट सुने जाने लगे । कई स्त्रियां तो मुँहफार से रही थी । सैकडों नगरजन इस घटना से नाराज थे .. पर सत्ता के सामने बोले कौन ?

'राजकुमार, मैं तो दूर-दूर चल रही थी....युवराज्ञी की निगाह मुझ पर ना गिरे इसकी सावधानी रखकर मैं चल रही थी....मेरी आंखें तो सावन की झड़ी से घिर गयी थी । तीन चार बार तो ठोकर खा खा कर मैं जमीन पर गिर गयी....। जब स्मशान आता तब तो सूरज भी डूब चूका था....जैसे कि युवराज्ञी पर गुजरते सितम से सूरज भी शरमा गया। और अस्त हो चला हो ।

वसंता की बातें सुनकर मेरे भीतर रोष की आग धधक उठी। मेरी आंखें आंसूओं से उभरने लगी। मैं पलंग पर से खड़ा हुआ.... और झरोखें में जाकर खड़ा रहा। मां आंचल में मुंह छुपाकर रो रही थी। वसंता मां को शांत करने की कोशिश कर रही थी। मुझे चारों तरफ अंधेरा ही अंधेरा नजर आने लगा। मेरा मन-मरचुका था। सचमुच मैं मूढ हो चुका था।

१२.

शोक, उद्वेग व आक्रन्द ही अब तो मेरा जीवन बन चुका था। ऋषिदत्ता की स्मृति के अलावा मेरे मन में और कोई विचार नहीं आता था। मुझे अपनी अशक्ति, कायरता और निर्वीर्यता पर नफरत सी हो रही थी। साथ ही साथ, पिताजी ने जिस ढंग की क्रूरता, निर्दयता एवं पाशविकता का परिचय दिया था, उससे मेरा मन विद्रोही हुआ जा रहा था।

मैं ऋषिदत्ता को बचा न सका, उसकी रक्षा कर न सका, उसकी मुझे पारावार वेदना थी। मैं जानता था कि ऋषि निर्दोष थी.... निष्पाप थी....निरपराधी थी....फिर भी किसने ऐसी क्रूर चाल चली उसके साथ....मैं इसका पता भी नहीं लगा पाया था। उस पर लगे हुए इल्जाम के दाग को धोने के लिये मेरे पास कोई सबूत भी तो नहीं था न ? हाँ, एक ही सबूत था....और वह था मेरा कोमल-भावुक-मासूम हृदय ! पर हृदय का सबूत पिताजी को मन्जूर नहीं था ? इस दुनिया की दीवारों ने कब दिल की सच्चाई को आदर दिया है ? किसने दिल की गहराईयों को छूने का प्रयास किया है ? चाहे ऋषि पिताजी के लिये पुत्रवधु थी, पराये घर की कन्या थी, पर मैं तो उनका ही खून

था न ? ऋषिदत्ता की सच्चाई पर उन्हें विश्वास न हो, पर क्या अपने ही पुत्र पर इतना अविश्वास ?

पिता का पुत्र पर अविश्वास ? पिताजी ने तो मान ही लिया था कि मैं ऋषिदत्ता के प्रेम में पागल हो चुका हूँ और इसलिए ऋषिदत्ता के दुश्चरित्र को जानते हुए भी आंख मिचौनी खेल रहा हूँ। मुझे राज्य की प्रजा से भी ऋषिदत्ता ज्यादा प्यारी है। ये सारी पिताजी की मनोमन धारणाएं थी।

जिस पिता का मैंने अपरंपार प्यार पाया था ..जिन के लिए मेरे दिल में गाढ़ आदर एवं श्रद्धा थी....भक्ति एवं इज्जत थी और पिताजी यह सब जानते भी थे। किन्तु मेरे प्रति उनकी श्रद्धा टूटती गयी....चूंकि दुनिया की एक मान्यता ने शायद पिताजी को भी मुग्ध बना रखा था कि पत्नी के गाढ़ अनुराग में पड़ा हुआ पुत्र अपने माता-पिता का नहीं रहता है। माता-पिता चाहते हैं कि पुत्र अपनी पत्नी से भी ज्यादा अपने माता-पिता को प्यार करें। माता-पिता के लिये पत्नी का त्याग भी करना पड़े तो कर दें! पर पत्नी के लिये माता-पिता का त्याग न करें! फिर क्यों न पत्नी निर्दोष हो एवं माता-पिता दोषित हों!

मेरे दिल में ऐसे दयाहीन खोखले आदर्शों के प्रति नफरत-सी हो गयी थी। आदर्श के लिये मनुष्य या मनुष्य के लिये आदर्श ? चाहे मिली हुए सबूतों के आधार पर पिताजी ने ऋषिदत्ता को हत्यारी मान ली, पर उनको मेरी बात भी सुननी चाहिये थी। यदि उन्हें मेरे पर प्यार एवं श्रद्धा थी तो! परन्तु उस जोगन की बात सुनने के बाद तो उनका मेरी तरफ का प्रेम व स्नेह का झरना सूख ही गया था। जोगन

की बात उन्हें सही लगी....और बात भी तो वैसी ही थी न ? ऋषि का खून से सना हुआ चेहरा गुप्तचरों ने देख लिया था ! मांस के टुकड़े भी देख लिये थे !

फिर भी ऋषि को निर्दोष मानने के लिये एक विकल्प था ! ऋषि का मासूम व्यक्तित्व ! वो एक राजर्षि की लड़की थी। पवित्र आश्रम में पैदा हुई और बड़ी हुई थी ! पिताजी खुद ऋषिदत्ता के पिता को जानते थे। मुझे पिताजी ने कहा भी तो था ! ऐसी कन्या हत्यारी हो ही नहीं सकती। अवश्य, कोई आसुरी तत्व की मायाजाल की शिकारी बेचारी ऋषि बन चुकी थी....इस तरह उसकी निर्दोषता साबित हो सकती थी, पर उसके लिये तो पिताजी सोचना भी नहीं चाहते थे न ?

हालांकि मुझे वह दिन याद आ गया !सबसे पहले जब मैंने ऋषि के चेहरे को खून से सना देखकर एवं मांस के टुकड़े उसके तकिये के पास गिरे हुए देखकर, जो उग्र रूप धारण किया था और ऋषि को डांट फटकार सुनायी थी....मैं कांप उठा....ऋषि की आंखें तब कैसी छलछला गयी थी ! किसी करुणता छा चुकी थी उसके मासूम चेहरे पर ? अलबत्ता तुरन्त मैंने अपनी भूल को कबूल कर लिया था पर एक बार भूल तो हो ही गयी थी न ?

शादी के बाद कुछ ही महीनों में कितनी करुण घटना हुट चुकी थी ? न सोची हुई, न कल्पना की हुई इस दुःखदायी घटना ने मेरे ही तन-मन को तोड़ दिया था ऐसा नहीं, मेरी माँ की भी यही स्थिति थी ! राजमहल के दास-दासी भी ऐसी ही करुणता के शिकार बन चुके थे। कौन किसे आश्वासन दे ? किसी के भी चेहरे पर रौनक

न थी। आनन्द न था। उल्लास न था। कोई बोलता भी नहीं था। कहीं हंसी-खुशी नजर नहीं आ रही थी। खामोशी और विवशता के घने बादल राजमहल पर घिर आये थे।

नगर में प्रजाजनों की हत्या होना बन्द हो चुका था, पर ऋषि की हुई क्रूर हत्या की वेदना से प्रजाजनों के दिल व्यथित थे। एक मात्र मेरे पिताजी ही ऐसे थे जिन्हें किसी तरह की वेदना या दर्द नहीं था! हाँ, मेरी बिगड़ती हुई तबियत के कारण शायद वे चिंतीत थे। आखिर तो मैं उनका अपना ही खून था न?

मुझे जैसे भोजन, वस्त्र-आभूषण वगैरह वस्तुओं पर किसी भी तरह राग न रहा था वैसे ही संसार के किसी भी व्यक्ति के लिये अब दिल में प्यार या स्नेह की पुलक भी नहीं थी। मेरा मन विरक्त होता चला गया। सारा संसार मुझे उदास-उदास एवं मायूस लगने लगा। मैं राजमहल से बाहर निकलता ही नहीं था। कहां जाऊं? किसके पास जाऊं! कभी कभार सांझ की बेला में, मेरे महल के झरोखे में खड़ा खड़ा ढलते सूरज की किरणों को देखता रहता या फिर दूर-दूर क्षितिज की गोद में आ रहे मौन कारवां को देखता रहता। मेरा मन निराशा की नील निशा में डूबा जा रहा था।

जिन्दगी से ज्यादा मुझे मौत अच्छी लगने लगी। जीने का अब कुछ बहाना या प्रयोजन भी तो नहीं था न? हालांकि मैं तब नहीं जानता था कि मौत के बाद भी जीवन होता है या नहीं? यदि होता है तो वह कैसा होता है? इन बातों का तब मेरे पास कोई जवाब नहीं था। मेरे लिये तो मेरी विषादपूर्ण अवस्था काफी दुःखद थी, [illegible] थी। इसलिए ही तो मैं मौत की गोद में सरकना पसन्द

कर रहा था। गहराई में यह चाहता तो था ही कि मृत्यु के बाद की जिन्दगी में भी ऋषिदत्ता शायद मिल जाये।

बचपन में मां से सुनी कहानियों में सुना था कि 'वर्तमान जीवन के प्रेमी युगल, यदि उनका प्रेम सच्चा एवं दिल का होता है तो दूसरी जिन्दगी में भी उनका मिलन हो जाता है।' मेरे हृदय में मौत के बाद के ऋषि के मिलन की चाहना अदम्य हो उठी। मैं काफी विह्वल हो उठा। आत्मघात करके जिन्दगी को पूरी करने के विचारों से मेरा अस्तित्व घिर गया। पर मेरे चारों ओर पिताजी ने ऐसा पहरा जमा रखा था कि ऐसा कोई भी कदम उठाना मेरे लिये नामुमकिन था। शायद पिताजी ने मेरी मनःस्थिति को भांप लिया हो।

मैंने पिताजी के पास जाना छोड़ दिया था। मैं उनके सामने देखना या उनसे बात करना भी नहीं चाहता था। पिताजी ने भी मौन ले लिया था। मात्र मेरी माता मेरे शयनखण्ड में कई बार आती रहती थी। मेरे सर पर हाथ फेर कर कुछ पल मुझे सहला कर चली जाती थी। उसकी छलकती संवेदना मौन में बिखर जाती थी। नौकर एवं दास-दासी सब यंत्रवत् अपने-अपने काम किये जा रहे थे। मैं जानता था कि उन सबके दिल में ऋषि के लिये कितनी जगह थी। मेरी वेदना उनकी अपनी वेदना बन चुकी थी। मुझे कभी-कभी उन पारिचारिक एवं परिचारिकाओं के प्रति दया भी हो आती थी। फिर भी मैं एक शब्द भी नहीं बोल पा रहा था....।

विरक्त बने हुए मन में एक दिन महर्षि के आश्रम की स्मृति काफी प्रबल हो गयी। आश्रम में मनाया हुआ वसंत महोत्सव का

मन्दिर····और मन्दिर में प्रतिष्ठित परमात्मा की नयनरम्य प्रतिमा याद आ गयी। ऋषि के साथ दिनों तक उन परमात्मा के दर्शन-पूजन किये थे···घण्टों तक हम दोनों ने सूर में सुर मिलाकर परमात्मा के गीत गाये थे। वो सब इतना याद आ गया कि मैं पलंग पर से नीचे उतर कर शयन-गृह के द्वार पर पहुँच गया। अभी के अभी आश्रम में पहुँचने की तीव्र चाहना मुझे तड़फाने लगी। वहीं सामने मेरी माँ आकर खड़ी हो गई, मेरे दोनों हाथ पकड़कर माँ ने प्यार से छलकते स्वर में पूछा : 'बेटा, कहाँ जाना है? मैं मौन रहा, माँ के सामने ताकता रहा। 'बेटे, यदि तुझे उद्यान में जाना हो तो रथ मंगवा दूं और मैं भी तेरे साथ आऊं! अब तू कुछ स्वस्थ हो बेटा! आखिर कब तक तू गमगीनी के साये में जीयेगा? तेरी बेचैनी, तेरी वेदना मुझसे नहीं सही जाती ·· बेटे····।' माँ ने अपने आंचल से आंसू पोंछे। मैंने कहा।

'माँ, मुझे ऋषि के आश्रम में जाना है। वहाँ भगवान ऋषभदेव का बड़ा प्यारा मन्दिर है। वह मन्दिर मुझे काफी अच्छा लगता है। मुझे वहाँ जाना है। तू भी चल मेरे साथ···।' माँ तो मेरे सामने देखती ही रही। मैंने कहा :

'माँ, तूं चल तो सही एक बार मेरे उस आश्रम में और देख उस आश्रम को। जहाँ ऋषि का जन्म हुआ था और वो बड़ी हुई थी। ऐसे पवित्र स्थल में पैदा हुई कन्या क्या हिंसक हो सकती है? वहाँ तो हिंसक जानवर और हिंसक मनुष्य भी अहिंसक हो जाते हैं! उस आश्रम की हवा में धूली में से तो दया और करुणा के फूल खिलते हैं। उस आश्रम की हवा में हमेशा प्रेम का संगीत गूंजता है। माँ, एक

बार उस आश्रम को देख ! बाद में पिताजी को दिखाना । उन परमात्मा ऋषभदेव के परमपावन मन्दिर को देखना । परमात्मा की मनहर मूर्ति के दर्शन करना ! वो सब अपनी आँखों से देखना । पिताजी भी अपनी नजरों से देखें । तब ऋषि को और उसके व्यक्तित्व को पहचान सकेंगे ।'

मैं यह सब एक ही श्वास में बोल गया था । माँ घबरा गयी । शायद इतने भावावेश में कहीं मेरी तबियत और ज्यादा बिगड़ न जाये । उसे चिंता हो आयी । उसने कहा :

'बेटे, तू स्वस्थ हो जा, फिर अपन साथ-साथ उस आश्रम में आयेंगे । परमात्मा ऋषभदेव के दर्शन करेंगे और राजर्षि का स्पर्श करके कृतार्थ होंगे । पर बेटे, अब तू विषाद को छोड़ । अब तू अपने मन को राजकार्य में लगा ।' प्यार से मुझे विवश करने का प्रयत्न करती माँ ने मुझे अपने सीने से लगा लिया । मेरा दिल बेकाबू हो गया । मैंने माँ की गोद में सर रख दिया....और दिल का बांध टूट गया । मैं सिसकियाँ भरने लगा । माँ भी बरबस रोये जा रही थी ।

मेरा शयनखंड अश्रुजल से गीला हो गया । उन आंसुओं की नमी में मुझे ऋषि का चेहरा उभरता हुआ दिखा । जैसे मुझे दिलासा देने आये हों....मैंने 'ऋषिदत्ता....ऋषि....' आवाज लगायी । माता ने मुझे पकड़ कर पलंग पर लिटा दिया और पंखा लेकर हवा डालने लगी ।

एक के बाद एक दिन बीतते जा रहे थे । मेरा मन अब धीरे-धीरे परमात्मा की भक्ति की ओर झुकता जा रहा था । चूंकि ऋषि

को परमात्मभक्ति अत्यन्त प्रिय थी। ऋषि जो परमात्म भक्ति के गीत गाती थी....मैं अब वही गीत गाने लगा। मुझे वे सारे गीत याद हो चुके थे। दुनियादारी की बातों से मुझे नाराजगी हो गई थी। राज्य की बातों से भी मैं बिलकुल ही अलग हो गया था। पिताजी के साथ मैं किसी भी तरह की बात नहीं करता था।

धीरे-धीरे पिताजी की तरफ का मेरा गुस्सा कम हो गया था। फिर भी उनके लिए मेरे दिल में सद्भाव पैदा हो सके वैसा तो था ही नहीं। ऋषि के साथ उन्होंने किया हुआ भयंकर दुर्व्यवहार, भला मैं कैसे भूल सकता था? दूसरी तरफ, मेरा मन राजपाट से विरक्त हो गया था। पिताजी की ओर से मुझे किसी भी तरह की अपेक्षाएँ नहीं रही थी। एक दिन मैंने माँ से कह भी दिया था कि: 'मैं तो अब अपना शेष जीवन ऋषि के आश्रम में जाकर पूरा करना चाहता हूँ। मुझे इस राजमहल और राजमहल के वैभवों का कुछ भी आकर्षण नहीं है।' पर माँ ने इजाजत न दी। खैर, फिर भी मैं धीरे-धीरे राजकुमार की जिन्दगी छोड़कर एक सामान्य मनुष्य की जिन्दगी जीने लगा था।

पिताजी के मन में था कि 'दुःख की दवाई दिन।' दिन ज्यों-ज्यों बीतेंगे...कुमार ऋषिदत्ता को अपने आप भूल जायेगा।' पर उनकी धारणाएं गलत सिद्ध हुई। मैं ऋषि को कैसे भूल सकता था? ऋषि की जगह अन्य किसी स्त्री के लिए मेरे दिल में कोई जगह थी ही नहीं। मेरे मन में अन्य किसी भी स्त्री के प्रति अनुराग पैदा हो ही नहीं सकता था। मैंने अपने हृदय का तमाम प्रेम परमात्मा के चरणों में रख दिया था।

पिताजी ने मेरी माँ के द्वारा मुझे अन्य किसी राजकुमारी के साथ शादी करने के लिये समझाने का प्रयत्न किया, परंतु मेरे लिये वह

बात अशक्य थी। मैंने नम्रता से माँ को कह दिया : 'मेरे पास ऐसी बात तू कभी मत करना। क्या तू भी मुझे नहीं समझ पायेगी? आखिर ऋषि की क्या गलती जो मैं उसे भूलाकर अन्य किसी स्त्री के साथ जिन्दगी बिताऊं! मैं अकेले-अकेले जी लूंगा पर जिस दिल में ऋषि की यादें भरी हैं उसमें और किसी को स्थान नहीं मिलेगा।' माँ मेरे दिल को दुखाने के लिए जरा भी तैयार न थी। वो तो हर समय मेरे सुख का ही विचार कर रही थी। मेरे दुःख से दुःखी होने वाली थी। ऋषिदत्ता के लिये भी माँ के दिल में गहरा प्यार और अटूट ममता थी। माँ उसे निर्दोष ही मानती थी।

दो महिने बीत गये। राजमहल का जीवन यथावस्थित होता जा रहा था। मेरे मित्र मेरे मन को प्रफुल्लित करने के लिये काफी प्रयत्न करते थे, परन्तु मैंने उनसे कह दिया था कि वे ऐसे प्रयत्न करें ही नहीं। दो महीने बीते या दो साल बीते,....पूरी जिन्दगी बीत जाये, फिर भी मैं ऋषि को नहीं भूला सकता....और नहीं ऋषि के अलावा अन्य स्त्री को हमसफर बनाने के लिये तैयार हो सकूंगा। अन्य किसी स्त्री से मैं कभी प्यार कर ही नहीं सकूंगा।

एक दिन अपने शयनगृह में, मैं जमीन पर दरी बिछा कर आराम कर रहा था, कि माँ ने शयन-खंड में प्रवेश किया। मैंने खड़े होकर माँ के चरणों में नमस्कार किया। माँ ने मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। हम दोनों माँ बेटे जमीन पर बैठे। आखिर मां ने मौन तोड़ा।

'बेटा, अभी मैं तेरे पिताजी के पास से सीधी यहां पर आयी हूँ। आज राजसभा में कावेरी नगरी से राजदूत आया था। कावेरी-नरेश का संदेश लेकर आया था। अब तू रुक्मिणी के साथ शादी करले

के लिये कावेरी नहीं पहुँचा और रास्ते में ही ऋषिदत्ता को लेकर वापस लौटा, तेरी ऋषिदत्ता के साथ शादी हो गयी, यह समाचार जब रुक्मिणी को मिले, वो एकदम निराश हो गयी। उसने प्रतिज्ञा कर रखी है कि 'यदि मैं शादी करुंगी तो कनकरथ के साथ ही। इसके अलावा अन्य किसी के साथ शादी नहीं करुंगी।' कावेरीपति चिंतामग्न हो गये। उन्होंने अपनी पुत्री को अन्य किसी राजकुमार के साथ शादी करने के लिये काफी समझाया, परन्तु रुक्मिणी अपने निश्चय पर अटल है। आखिर इसको तेरे पिताजी के पास भेजकर संदेश कहलाया है कि 'कैसे भी करके, राजकुमार को समझाकर, रुक्मिणी के साथ शादी करने के लिए कुमार को कावेरी भिजवाईये, अपना बरसों का संबंध है। इस संबंध से प्रेरित होकर आपको यह संदेश भिजवाया है। मेरी पुत्री की जिन्दगी का सवाल है।'

'कावेरीपति का यह संदेश सुनकर तेरे पिताजी काफी सोच में पड़ गये। उन्होंने मुझे बुलाकर सारी बात कही और कहा कि 'तुम कैसे भी करके कुमार को समझा दो। होना था सो तो हो चुका, मुझे उस बात का काफी दुःख है, परन्तु अब रुक्मिणी के जीवन का विचार तो करना ही चाहिए।'

माता ने मेरी ओर देखा। मेरी आंखें धरती पर स्थिर थी। मैं माँ की बातें ध्यान से सुन रहा था। बातें सुनी तो सही, पर मेरे हृदय में रुक्मिणी के प्रति किसी भी तरह का अनुराग पैदा नहीं हुआ। न कोई भावनाओं की तरंगे उठी। ऋषि का स्थान भला और कोई कैसे ले सकता था? आखिर मैंने ऋषिदत्ता को कितनी गहराई से चाहा था?

१३.

दर्द-पीड़ा और घूटन से मेरा मन घुट रहा था। वहीं माँ ने रुक्मिणी के साथ शादी करने के लिए, कावेरी जाने की बात कही। स्मृतियों की सेज पर ऋषिदत्ता की प्रतिमा ज्यों की त्यों बनी हुई थी। यादों का कारवाँ ऋषि के इर्द-गिर्द घूम रहा था। उसे भूलना मुमकिन भी तो नहीं था न? हर पल-हर क्षण दिलो-दिमाग पर उसकी यादों के साये मंडराये रहते थे। मुझे माँ की बात जरा भी अच्छी नहीं लगी। मैं चुप्पी साधे बैठा रहा। माँ भी मौन रही। उस दिन तो वह उठकर चली गयी। मैं जानता था कि माँ ने मात्र संदेशवाहक का कार्य किया था। पिताजी जानते थे कि मैं मेरी माँ की आज्ञा का, माँ की इच्छा का कभी अनादर नहीं करता हूँ।

दूसरे दिन भी माँ ने कावेरी जाने की और रुक्मिणी के साथ शादी करने की बात निकाली। मैंने दर्द भरे स्वर में कहा...."माँ तुम मुझे रुक्मिणी के साथ शादी करने का कह रही हो? तुम क्या मेरे दिल की मायूसी को नहीं जानती हो? मैं ऋषिदत्ता के अलावा और किसी भी स्त्री को अपनी पत्नी के रूप में सोच भी नहीं सकता। और अभी तो ऋषि की निर्मम और क्रूर हत्या को हुए एक महीना भी नहीं

बीता है उस क्रूर हत्या के काले साये अभी तो इस राजमहल व सारे नगर पर छाये हैं....वातावरण में विषाद, निराशा व विवशता के करुण स्वर गमगीनी की घुटन भर रहे हैं....तब मैं शादी की शहनाई बजवाऊँ ? मैं सेहरा बाँधु ? माँ तुम यह क्या बोल रही हो ? ऐसी बात कभी मत करना माँ, नहीं....माँ, यह कभी नहीं हो सकता ! इस जिन्दगी में अब अन्य किसी स्त्री का जीवन साथी के रूप में आना सम्भावित नहीं है ! कभी नहीं होगा माँ, मैं किसी भी कीमत पर ऋषि के प्यार को नहीं झूठला सकता ।"

दोनों हथेलियों में चेहरा बांधे नीची आँखें किये माँ मेरी बातें सुनती रही । उसके चेहरे की कोमलता पर वेदना का काला रंग पथराया था । उसकी झील सी आँखों में विवशता की परछाईयाँ तड़फ रही थी । उसके मुँह से ठंडी सांस उठी ! उसकी आँखों के किनारे चूने लगे । उसने आंचल के छोर से आँसू पौंछ डाले । वो खड़ी हुई और पश्चिम दिशा के वातायन में जाकर खड़ी रह गयी । मैं भी पलंग पर से खड़ा होकर, माँ के पास जाकर खड़ा रहा । माँ ने दर्दभीगी निगाहों से मेरे सामने नजर उठायी और दूसरे ही क्षण उसकी आँखें दूर-दूर तक फैले क्षितिज पर पथरा गयी ।

उसने मेरा हाथ पकड़ा....और मेरे सामने देखा । वो भद्रासन पर बैठ गयी । मैं उसके चरणों में जमीन पर बैठ गया ।

'बेटे, तेरा दर्द मैं समझ सकती हूँ । तेरी वेदना स्वयं मेरी वेदना बन चुकी है । कौन भला तेरी वेदना को नहीं समझ पायेगा ? पर बेटे, इस संसार ने हमेशा प्यार भरे भावुक दिलों को कुचला है ! इसलिए तो तीर्थंकरों ने इस संसार को दुःखरूप कहा है ! जीवात्मा को कर्मो

की पराधीनता में दुःख, त्रास और वेदना ही उठानी होती है। चाहे अपन क्यों न राजमहल में हो, अपने पास संसार की तमाम सुख-सुविधाएँ हो, फिर भी आज अपन चैन की सांस नहीं ले पा रहे हैं। प्रसन्नता की खुशबू का अनुभव नहीं कर पाते हैं। सच कहूँ तो बेटा, मेरा तो अपना मन इस संसार के भोगसुखों से विरक्त हो गया है....। यह राजमहल मुझे कैद लगता है। पांचों इन्द्रियों के विषय सुख मुझे जहर से लगते है। मन तड़प रहा है मोक्षमार्ग की आराधना के लिए....। कल रात को ही....अचानक आंखे खुल गयी....और मन तीव्रता से बोल उठा : 'अंधेरी रात है....निकल जा इस राजमहल से ...पहुँच जा गुरुदेव के चरणों में....सारे सुखों का त्याग करके बन जा साध्वी.... बन जा श्रमणी....।

वहाँ स्मृति पट पर तू उभर आया बेटा ! मेरा मातृत्व छलक उठा हृदय में, तुझे इतनी पीड़ा और व्यथापूर्ण मनःस्थिति में रखकर मैं कैसे चली जाऊँ ? यह भी एक बन्धन है, बेटे प्यार का बन्धन....! राग का बंधन....! हाँ यह बंधन भी टूट जायेगा एक दिन, तुझे शांत-प्रसन्न और आनन्दमग्न देखूंगी तब यह बंधन भी टूट जायेगा और मैं संसार का त्याग करूंगी। शरीर की भी ममता छोड़ कर तपश्चर्या के चरणों में जिन्दगी को अर्पित करूंगी।'

आज पहली बार माँ के मुँह से इस तरह की अगम-निगम की बातें सुन रहा था। माँ स्वस्थता से बोल रही थी। उसका एक एक शब्द उसके भीतर की वेदना में से उठ रहा था। उसकी गहरी समझ, उसका उन्नत ध्येय और मानवजीवन की सफलता के लिए उसकी जागृति.... यह सब देखकर मैं गद्गद् हो गया। मेरा दिल एकदम भर आया। माँ

के चरणों में सर रखकर मैं कफक उठा। पल भर के लिए मैं मेरा दुःख भूल गया। मां के दिल की दर्दभरी स्थिति ने मुझे व्याकुल बना डाला।

'मैं क्या करूं मां ?'

'तूं तेरे पिताजी की इच्छा के अनुसार कावेरी जा और रुक्मिणी के साथ शादी करले।' मां ने आकाश पर आंखें गड़ाए गम्भीर और स्पष्ट शब्दों में कह दिया।

'तो क्या तुम्हारा मन प्रसन्न होगा ? तुम्हारा दिल शान्त होगा ?'

'बेटे, तेरे पिताजी खुश होंगे। उनका चित्त प्रसन्न होगा और यह करना तेरा कर्तव्य है। मेरी मनःप्रसन्नता तो अब परमात्मा के पावन चरणों में ही है। मैंने तो इस संसार को भली-भांति समझ लिया है। जान लिया है। संसार के सुख भी दुःखरूप है। संसार की शांति भी अशांति की नींद सी है। बेटे, मात्र कर्तव्य-पालन की भूमिका निभानी है इस दुनिया में! ऋषिदत्ता के आसपास बनी हुई अनेक अच्छी बुरी घटनाओं ने मेरे मन को संसार से विरक्त बना डाला है।'

'तो फिर मां, तुम और मैं अपन दोनों संसार का त्याग करके किसी आश्रम में.... किन्हीं गुरुदेव के चरणों में जाकर आत्म-साधना में लीन बन जायें! मुझे भी अब इस संसार के सुखों का कोई आकर्षण या अनुराग नहीं रहा है। मुझे तो वैसे भी आश्रम का शांत और प्रसन्न वातावरण, उसका जीवन काफी पसन्द है।

'यह मुमकिन नहीं बेटे, अपने समय के संयोगों में यह असंभव है। तेरे पिताजी राजा है, सत्ताधीश है, साथ ही आज उनके दिल में

तेरे और मेरे लिए गहरा प्यार हैं। असीम अनुराग हैं। चाहे तेरे हृदय में उनके प्रति आसक्ति न भी हो। संसार में कभी-कभी ऐसा फर्ज निभाना अनिवार्य होता है .. कि अपन को जिनके प्रति राग न हो.... प्रेम न हो फिर भी उन्हें अपने प्रति राग हो....स्नेह हो....तब उसके स्नेह को अपन ठुकरा नहीं सकते! उसके दिल को तोड़ नहीं सकते! उसको अपनी भावुकता को कुचलनी भी पड़ती है! तुझे मालूम है? यदि तू और मैं संसार त्याग की बात करें तो तेरे पिताजी के दिल को इतना सदमा पहुँचे कि शायद उनके दिल की गति रुक जाये और....।'

माँ, विह्वल हो उठी। उसने अपने हाथ में मेरा चेहरा थाम लिया और उसे सहलाने लगी। मेरे भीतर माँ की इस बात का एक गलत प्रत्याघात उभरा था मैंने माँ से कहा :

माँ, तुम पिताजी के दिल को आघात न हो यह बात कर रही हो, पिताजी ने क्या मेरे और ऋषि के दिलों को नहीं तोड़ा? क्या बाकी रखा है उन्होंने हम पर सितम बरसाने में? तो फिर मुझे क्यों उनके लिए सोचना चाहिए? एक बात और कहूँ? उनके दिल में चाहे तेरे लिए अनुराग हो....पर मेरे लिए तो उनके दिल में जरा भी प्यार नहीं है....बिकुल अनुराग नहीं है, उनका दिल सख्त है....पत्थर है। ऐसे दिल की मुझे क्यों परवाह करनी चाहिए? 'मैं यदि संसार छोड़ दूं तो उन्हें कुछ भी दुःख होने वाला नहीं?'

'बेटे, यहां तेरी गलती हो रही है। मानव-मन की विचित्रताओं का कोई पार नहीं! तेरे पर तो उन्हें प्यार है ही, तेरा जिस पर प्यार था वो ऋषिदत्ता उन्हें अपराधिनी लगी, डायन लगी, प्रजा की हत्यारिन लगी और उन्होंने उसकी हत्या करवा डाली। यह सारी प्रक्रिया ऐसी

एक तरफा बन गयी कि उसमें तेरे पिताजी यह नहीं सोच सके कि 'राजकुमार के दिल पर क्या बीतेगी ? मुझे चाहे ऋषिदत्ता डायन प्रतीत हो रही है पर राजकुमार तो उसे जी जान से चाहता है। ऋषिदत्ता के बिना वो एक पल भी गंवारा नहीं करता। उसका क्या होगा ?' यह विचार उनके अस्वस्थ चितामग्न और व्याकुल मन में न आ सका। शायद तेरा विचार उन्हें आया भी होगा तो उन्होंने यह सोचकर अपने मन को समझा दिया होगा कि 'मेरे कुमार की तो ऋषिदत्ता से भी सुन्दर व सुशील राजकुमारी के साथ शादी करवा दूंगा। 'बहुरत्नावसुन्धरा' ऐसी तो कई ऋषिदत्ताएं मिल आयेगी। पर ऐसी राक्षसी को जिन्दा रखना खतरे से खाली नहीं होगा।'

'कुमार, ज्यादातर मानवी स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को इसलिए अनिवार्य मानता है कि इससे उसे शारीरिक सुख की प्राप्ति हो, संतान सुख मिले, पारिवारिक जीवन के सुख की प्राप्ति हो...बस, इतना मिला कि विवाहित जीवन सफल है। दुनिया ने कभी प्रेम के पवित्र तत्त्व को स्थान दिया ही नहीं है। शारीरिक और पारिवारिक सुख से भी मानसिक प्रेम का सुख बेहतर है..., ऊंचा है, ऐसा कौन समझता है इस संसार में ? स्त्री का सुख चाहिए न ? एक मर गयी तो दूसरी उठा लाओ, स्त्री के बिना घर बराबर नहीं चलता है न ? दूसरी स्त्री को लाकर बिठा दीजिये घर में। कहाँ कमी है स्त्रियों की ? दुनिया की यही रीत और रसम है कुमार, तेरे पिताजी ने शायद तेरे लिए ऐसा ही सोचा होगा। ऋषिदत्ता और तेरे आन्तरिक....मानसिक, आत्मिक सम्बन्ध की दृष्टि से तो वे सोच भी कैसे सकते हैं ?"

मेरा मन माँ की अर्थपूर्ण बातें सुनने में खो गया। माँ की बात

में मुझे सच्चाई नजर आयी। माँ की गंभीर विचारधारा मेरे हृदय को आंदोलित कर गयी। माँ ने मेरी आंखों में झांकते हुए कहा :

'कनक ! अब तू स्त्री के हृदय का विचार कर, तू ऋषिदत्ता को कितना प्यार करता था और उसकी जुदाई में तेरा मन कितना व्यथित उदास व आंसूओं से भर आया है, हर एक पल मुझे जीने की बजाय मौत की तरफ ले जा रही है। प्रिय व्यक्ति की विलगता मनुष्य को कितना दुःख बना देती है ? इस बात का तो तूने खुद ने अनुभव कर लिया है न ? तूं इसी तरह जरा रुक्मिणी का विचार भी तो कर !

रुक्मिणी तुझे चाहती है, उसके दिल में तेरे लिए प्रगाढ़ प्रीति है। तेरी जुदाई....तुझे पाने की तीव्र चाहना, उसे कितना दुःखी करती होगी ? उसने तो निश्चय कर लिया है कि मैं शादी करूंगी तो कनकरथ के साथ ही, और के साथ नहीं !' क्या तुझे उसके दिल का विचार नहीं करना चाहिए ? उसके संतप्त हृदय को सांत्वना नहीं देनी चाहिए ? तूं दूसरों को सुख दे, खुद तुझे सुख मिलेगा !'

मैंने माँ को बोलते हुए रोककर बीच में पूछा : 'माँ क्या रुक्मिणी के साथ शादी करने से मैं उसे सुख दे सकूंगा ? मेरे दिल में जिसके लिए किसी भी तरह का अनुराग नहीं है ...प्यार नहीं है, कोई प्यार की भावना नहीं है, उसके साथ शादी करने का मतलब भी क्या ? शादी के बाद उसकी मेरी तरफ की अपेक्षाएं अब मैं पूरी नहीं कर पाऊंगा तब उसे कितना दुःख होगा ? मैं उसे इस तरह दुःखी करना नहीं चाहता।'

'बेटे, मन की स्थिति परिवर्तनशील है, आज जिसके प्रति द्वेष हो, कल उसी के प्रति प्यार जागता है। आज जो अत्यन्त प्यारा है कल

जो ही हमारी नफरत का शिकार बनता है। यह तो सब चलता ही रहता है संसार में। ऋषिदत्ता को लेकर जब तू यहां आया तब तेरे पिताजी के दिल में ऋषिदत्ता के प्रति स्नेह-सद्भाव व वात्सल्य था या नहीं? बाद में ही उसकी तरफ घोर द्वेष पैदा हुआ। तेरे भीतर भी तेरे पिताजी के लिए कितना आदर था, प्यार था? आज कितना फासला है तुम्हारे बीच? वैसे, चाहे आज तेरे दिल में रुक्मिणी के प्रति प्यार न भी हो, शादी के बाद प्यार हो जायेगा।'

'पर माँ, मान लो कि प्यार नहीं जगा तो? उसका क्या होगा?'

'फिर जैसी उसकी किस्मत?'

'यानि!'

'यानि कि यही....आखिर तो सुख दुःख का आधार व्यक्ति के शुभ-अशुभ कर्मों पर है। जब तक पुन्य का दिया जलता है तब तक सुख की रोशनी ही रोशनी और ज्यों ही पाप की हवा से पुन्य का दिया बुझा, फिर वही....दुःख की बीहड़ रात का निबिड़ अंधकार छा जाता है। सुख-दुख के मामले में मानव का पुरुषार्थ भी गौण होता है, उसका प्रारब्ध-नियति ही मुख्य नियामक बनती हैं। बेटे, पुण्य व पाप कर्म के सिद्धान्तों को यदि तू समझेगा तो तेरे मन की कई समस्याओं की उलझनें सुलझ जायेगी।'

मैं विचारों की गहराई में डूब गया। परिचारिका ने माँ और मुझे पानी दिया। पानी पीकर माँ ने अपनी बात आगे बढ़ायी।

'कनक, एक और महत्व की बात कहूँ? तूने मुझे कहा था न कि मुझे ऋषिदत्ता के आश्रम में जाना है? कहा था न? वैसे तो तेरे

पिताजी तुझे आश्रम में जाने नहीं देंगे पर यदि तू कावेरी जाने की हांमी भर ले तो तुझे उसी रास्ते होकर गुजरना होगा। रास्ते में आश्रम आयेगा ही। तू वहां कुछ दिन रुकना भी....तेरा मन हल्का होगा ...तुझे वहां शान्ति मिलेगी....बाद में तू कावेरी चले जाना।'

माँ की इस बात ने मुझे भीतर तक हिला दिया। वैसे भी मैं इस नगर को....इस महल को छोड़कर दूर-दूर....जाने का तो सोच ही रहा था....। आश्रम में जाने की भी तीव्र इच्छा थी। मुझे माँ की यह सलाह काफी पसन्द आयी....मुझे यह बात अच्छी लगी। मेरा मन तो उछलने लगा जैसे बरसों से पिंजरे में बन्द पंखी के पंख गगन में घूमने के लिए फड़फड़ाने लगे। रुक्मिणी के सुख-दुःख का विचार मैंने उसके पुण्य पाप की खूंटी पर रख दिया।

आश्रम....और ऋषिदत्ता मेरे दिल को खींचने वाले ये दो प्रबल निमित्त थे। मेरे चेहरे पर हल्की मुस्कान उतर आयी। मैंने माँ से हांमी भरली कावेरी जाने की। माँ ने मुझे सीने से लगाते हुए मेरे माथे को चूम लिया और खुश-खुश होती हुई उसने विदा ली। उसे पिताजी को यह खुश खबर सुनानी थी न? पिताजी को जवाब देना था कावेरीपति के दूत को! उस दूत को कावेरीपति और उनकी राजकुमारी को यह शुभ समाचार पहुँचाने थे!

मेरे महल के आस-पास जमें हुए सैनिकों के दस्ते उठा लिये गये। मुझे महल से बाहर जाने की इजाजत मिल गयी। मैं आश्रम की सृष्टि में खोया-खोया सा रहने लगा। हां, वो ही आश्रम जहां मैंने पहली बार ऋषि को देखा था....उसे अपनाया था ...पर हाय....

१४

मैंने कावेरी की ओर प्रयाण कर दिया। पिताजी काफी प्रसन्न हुए। मेरी माँ का चित्त भी प्रसन्न हुआ। उसने मुझे अत्यन्त वात्सल्य से विदा दी।

हृदय में वेदना थी, संताप था फिर भी लोकव्यवहार का अनुसरण करते हुए मैंने चेहरे पर स्मित बिछाया और परिवार की विदा ली। मंत्रीवर्ग, सेना और सेवक वर्ग के साथ मेरा प्रयाण चालू हो चुका था।

मेरे रथ में मैं अकेला ही था। उसी रास्ते पर रथ दौड़ रहा था कि जिस रास्ते से मैं ऋषिदत्ता को लेकर आया था। आज मेरे रथ में वो नहीं थी फिर भी उसकी यादों के फूल मुस्कराते थे। प्रिय व्यक्ति की स्मृति से मुक्त बनने की ताकत मुझ में नहीं थी। उसका सहवास......पल भर का सहवास भी अत्यन्त सुखद था......इसलिए ही तो उसका विरह......उसकी दुखद मृत्यु......और उसकी स्मृति मेरे हृदय को व्यथा से भारी-भारी बना रही थी।

वो ही रास्ता·······वेही वृक्ष और वेही जलाशय थे·······वही झरनों का निनाद था ! इस रास्ते पर मैं उसके बाद प्रथम बार ही आ रहा था। इस रास्ते पर ऋषिदत्ता ने आते वक्त जगह-जगह पर बोये हुए वृक्ष ! रास्ते के दोनों ओर नाजुक पौधों के रूप में हरे-भरे बनकर खड़े थे। जैसी कोमलता-मासूमियत ऋषि में थी, वैसी ही मासूमियत इन पौधों में झलक रही थी ! कितनी उत्कंठा से······ कितने उल्लास और हर्ष से उसने पौधों का रोपण किया था ! जगह-जगह पर रथ में से उतरकर वो वृक्षारोपण करती थी और वो करते समय बार-बार प्यार भरी निगाहों से मेरे सामने देखती थी ····· वो शायद चाहती थी कि मैं उसे ऐसा करने से न रोकूं। पर भला, मैं उसे रोकूं भी क्यों ? आखिर प्रिय, अत्यन्त प्रिय व्यक्ति का कार्य भी तो उतना ही प्रिय लगता है न ?

जो ऋषिकन्या अब तक युवराज्ञी बन चुकी थी उसका इस तरह एक ग्राम्य कन्या की भांति वृक्षारोपण करते देखकर मेरे साथी लोगों को आश्चर्य या अरुचि हुई होगी, पर मुझे तो उसकी हर एक प्रवृत्ति आनन्द देने वाली ही लगती थी। उसकी हर एक प्रवृत्ति में औचित्य था।

हमारा प्रयाण अविरत चल रहा था। मात्र भोजन वगैरह आवश्यक कार्य के लिए ही हम लोग रुकते थे। जब हमने उस रमणीय प्रदेश में प्रवेश किया तब मेरे शरीर में सिहरन पैदा होने लगी। मेरे रोंये-रोंये में खुशी की थिरकन पैदा हो गयी। वे हरे-भरे पेड़ ! पेड़ की डालियों पर कलरव करते हुए निर्दोष पंछी ! इधर-उधर बहते पानी के झरने ! उछलते-कूदते मासूम हिरनों के बच्चे ! वृक्षपर्णों से आच्छादित शिलापट्टक और स्वच्छ गुलाबी रेत से ढंके हुए विशाल

मैदान ! चोतरफ सौन्दर्य था। मेरे हृदय ने क्षणिक आनन्द का अनुभव किया। अशान्त हृदय सुन्दरता को देख सकता है पर उसका अनुभव तो कैसे कर सकता है ? और, मैं कहां यहां पर सौन्दर्य की अनुभूति के लिए आया था ? सौन्दर्य के देखने की अनुभव की इच्छाएं मर चुकी थी। ऋषि के बिना का जीवन ही मुश्किल होता जा रहा था।

मेरी इच्छा राजर्षि के उस आश्रम में ही पड़ाव करने की थी। मैंने महामन्त्री को सूचना दी और मेरा रथ आश्रम की तरफ दौड़ने लगा। समग्र परिवार भी मेरे पीछे आने लगा। कुछ ही देर में मैंने दूर से भगवान ऋषभदेव के उस सुन्दर जिनालय के दर्शन किये। मैंने रोमांच का अनुभव किया। मेरा दाहिना नेत्र फड़कने लगा।

आश्रम के द्वार पर ही मैंने रथ खड़ा किया। रथ में उतरकर मैंने आश्रम में प्रवेश किया। आश्रम के एक-एक पेड़-पौधे के साथ मेरी पहचान थी ! भगवान ऋषभदेव के उस मन्दिर के एक-एक सोपान के साथ मेरा प्रेम था ! परमात्मा की नयनरम्य मूर्ति के साथ तो जैसे आत्मीयता का अटूट सम्बन्ध बंध चुका था। ऋषि के साथ परमात्मा के दर्शन-पूजन और स्तवन में अनेक दिनों तक कितना आल्हाद और आनन्द पाया था।

जिनालय के सोपान चढ़कर मैंने मन्दिर में प्रवेश किया। त्रिभुवनपति परमात्मा के दर्शन होते ही हृदय गद्गद् हो गया। रोंआ रोंआ खिल उठा। आंखों के किनारे खुशी के आंसू छूने लगे। मैंने भाव-सभर हृदय से परमात्मा की स्तवना की। तीन बार पंचांग प्रणिपात किये....और आंखें मूंद कर परमात्मा के चरणों में बैठ गया। मेरी बंद पलकों के पीछे परमात्मा की प्रसन्न मुद्रा उभरने लगी। परमात्मा के नयनों में से करुणा का अमृत बरसता दिखा।

सचमुच, मेरा शोक, मेरी उद्विग्नता और मेरा संताप दूर हो गया। आंतर आनन्द से मेरा दिल छलकने लगा। मैं समझ नहीं पा रहा था कि मुझे क्या हो रहा है। मेरे भावों में अजीबो-गरीब परिवर्तन हो रहा हो, वैसे मुझे लगने लगा। मुझे खयाल भी नहीं रहा कि मैं कितनी देर तक वहीं परमात्मा के चरणों में बैठा रहा!

जब मैं मंदिर के बाहर आया, मैंने एक ऋषिकुमार को मंदिर के सोपान पर चढ़ते देखा। मैं तो देखता ही रहा उस ऋषिकुमार को। वो एक खूबसूरत सा ऋषिकुमार था। उसके चेहरे पर प्रसन्नता थी। वह प्रसन्नता उसकी सुन्दरता में चार चाँद लगाये जा रही थी। उसके कोमल हाथ में फूलों का गुच्छ था और उसकी आँखों में प्यार भरा खींचाव था! उसने मेरे सामने देखा। हमारी आँख परस्पर टकरायी। ऋषिकुमार त्वरा से सोपानपंक्ति चढ़कर मेरे पास आया और फूलों का गुच्छा मुझे आदरपूर्वक देने लगा! मैंने उसका अभिवादन करते हुए फूलों का गुच्छा स्वीकार किया। मैं उसके चेहरे की ओर ही देख रहा था। शायद इसलिए ही शरम से उसका चेहरा लाल टेसू सा निखर आया और वो एकदम मन्दिर के भीतर चला गया। मैं तो वहीं पर पुतले की तरह खड़ा रह गया!

मेरे मन में प्रश्नों की भीड़ उभरने लगी: 'इस आश्रम में ऐसा ऋषिकुमार कहाँ से आया होगा? कितना मोहक व्यक्तित्व है इसका? कितनी विलक्षणता और विवेक है उसके व्यक्ति में! यह कौन होगा? ऐसी युवानी में इसने क्या संन्यास ले लिया होगा?'

मेरे हाथ में फूल थे। मैं पुनः मन्दिर में गया और परमात्मा के चरणों में फूल रख दिये। ऋषिकुमार ने भी पूजनविधि पूरी की और

हम दोनों साथ ही बाहर आये। मैंने ऋषिकुमार को दो हाथ जोड़कर, सर झुकाकर कहा :

'हे ऋषिकुमार! क्या आप मेरे साथ मेरी छावनी में आयेंगे ?'

'आपका शुभ परिचय ?' ऋषिकुमार ने मुझसे प्रश्न किया।

'आप मेरे साथ मेरी छावनी में चलिए, वहाँ मेरी कुटिर में बैठकर मैं आपको मेरा परिचय दूंगा और आपका परिचय प्राप्त करूंगा।'

मैं ऋषिकुमार को साथ लेकर मेरी छावनी में आया। छावनी में मेरी कुटिर तैयार हो चुकी थी और हम दोनों ने कुटिर में प्रवेश किया। ऋषिकुमार को एक स्वच्छ और सुन्दर आसन पर बिठाकर, अत्यन्त आदरपूर्वक उन्हें भोजन करवाया। कितना आग्रह करने पर उन्होंने भोजन किया! बाद में उनके ऋषिजीवन के अनुरूप वस्त्रों से उनका स्वागत किया। उन्हों ने श्वेत वस्त्र परिधान किये थे। सादे फिर भी स्वच्छ श्वेत वस्त्रों में ऋषिकुमार बड़े सुन्दर लग रहे थे।

मैंने उन्हें मेरा संक्षिप्त परिचय दिया। इसके बाद मैंने उनसे पूछा : हे ऋषिकुमार, आप इस आश्रम में कब पधारे ?' मुनि को, साधु को, ऋषि को, उनकी पूर्वावस्था के बारे में पूछना नहीं चाहिए, यह मैं जानता था। ऋषिकुमार ने कहा : 'हे राजकुमार, इस आश्रम में हरिषेण नाम के राजर्षि रहते थे। उन्हें ऋषिदत्ता नामक अत्यन्त विनीता पुत्री थी। रूपवती और गुणवती उस ऋषिदत्ता को यहीं आश्रम में एक राजकुमार के साथ प्यार हो गया। राजर्षि ने उस सुयोग्य राजकुमार के साथ ऋषिदत्ता की शादी करवी और वे स्वयं अग्निप्रवेश करके

स्वर्गवासी हो गये। ऋषिदत्ता राजकुमार के साथ अपने ससुराल चली गयी। फिर वह आश्रम सूना पड़ा था। मैं इस पृथ्वी पर परिभ्रमण करता हुआ अचानक ही यहाँ पर आ गया। मुझे इस आश्रम की धरती ने बांध लिया। परमात्मा ऋषभदेव का मन्दिर और परमात्मा की मूर्ति मुझे भा गयी और मैं यहीं पर रह गया।'

ऋषिकुमार के शब्दों में शहद की सी मधुरता थी...जैसी मधुरता ऋषिदत्ता की वाणी में थी। ऋषिकुमार की बातें करने की रीती भी ऋषिदत्ता के जैसी ही थी। मैं अनजान बनता हुआ कौतूहल का अभिनय करते हुए ऋषिकुमार की बातें सुन रहा था।

'हे मुनिकुमार! आपके दर्शन करके सचमुच मैं धन्य हुआ हूँ।' मैंने कहा।

'राजकुमार, आपसे मिलकर मुझे भी बड़ी खुशी हुई है। आप में विनय है, विवेक है और विनम्रता है। आप राजकुमार हो फिर भी आप में अभिमान नहीं है, गर्व नहीं है, आपके परिचय से मेरा दिल प्रसन्न है।'

ऋषिकुमार के चेहरे पर स्मित नृत्य कर रहा था। मेरा मन और ज्यादा उनके प्रति मुग्ध हुआ जा रहा था। मैंने पूछा :

'ऋषिकुमार आपके प्रथम दर्शन से ही मेरा मन आपकी तरफ इतना क्यों खिंच गया है? आपको देखता ही रहूँ....देखता ही रहूँ... वैसा होता है! आपके दर्शन से मेरी आँखें तृप्त ही नहीं होती?'

मेरा प्रश्न सुनकर ऋषिकुमार खिलखिलाकर हंस दिये। उनका हास्य भी बड़ा मोहक था। उन्होंने कहा : 'राजकुमार, कोई किसी को प्रिय होता है...चांद को देखकर कुमुद खिल उठता है न? सूर्य को

किरणों का स्पर्श पाकर कमल खिल जाता है न ? यह जैसे स्वाभाविक है वैसे ही यह भी जन्म-जन्मांतर के सम्बन्धों से स्वाभाविक है। पूर्व जन्मों में आपका और मेरा कोई स्नेहसम्बन्ध रहा होगा।'

'क्या गत जन्मों के स्नेह-सम्बन्ध वर्तमान जीवन के साथ संकलित हो सकते हैं ?

'होते हैं राजकुमार! किसी तरह के पूर्व परिचय के बिना किसी अनजान व्यक्ति को देखते ही प्यार पैदा हो जाता है, वह पूर्व जन्म में स्नेह संस्कारों के बिना संभवित नहीं है। इसी तरह किसी अपरिचित या अनजान व्यक्ति को देखते ही उसके प्रति द्वेष या अनमनापन पैदा होता है, यह गत जन्म के वैरभावना के संस्कारों के बिना संभव नहीं हो सकता।'

मुझे ऋषिकुमार की इस बात में काफी रस पैदा हुआ। मैंने फिर से पूछा : 'तो क्या यहाँ पर होने वाले सभी स्नेहसम्बन्धों के पीछे और वैर के बंधनों के पीछे गत जन्म के संस्कार काम करते हैं ?'

'नहीं, कुछ एक सम्बन्धों के पीछे पूर्वजन्म के संस्कार कारणभूत होते हैं तो कुछ सम्बन्ध न ये भी बनते हैं, यानि कि किसी व्यक्ति के साथ गत जन्मों में स्नेह-सम्बन्ध न भी हों, फिर भी इस जीवन में उसके साथ स्नेह हो सकता है। इसी तरह किसी व्यक्ति के साथ गत जन्म में वैर का सम्बन्ध न भी हो, फिर भी इस जीवन में उसके साथ वैर बन्ध सकता है।'

'पर मुझे ऐसा लगता है कि आपके साथ गत जन्म में अवश्य अगाढ़ स्नेह-संबंध होगा ही, अन्यथा आपको पहली नजर में देखते ही, मेरे हृदय में इतना सारा प्यार पैदा नहीं होता।'

ऋषिकुमार की आँखें जमीन पर गड़ी थी। वो मेरी बात ध्यान पूर्वक सुन रहे थे। उन्हों ने नीची नजर से कहा :

'कुमार, अनजान और अलगारी व्यक्ति के साथ प्रेम नहीं करना चाहिए। स्नेह नहीं बांधना चाहिए। मैं तो ऋषिकुमार हूँ ....आज यहां हूं .. कल दूसरी जगह चला जाऊँ! आप भी मुसाफिर हैं। आज अचानक यहां पर आ गये हैं ..अभी आपका समय पूरा होते ही आप चले जायेंगे! मेरे साथ स्नेह मत बांधिये, वर्ना, वियोग का दुःख आपको दुःखी कर देगा।'

वो खड़े हुए और 'जय ऋषभदेव!' बोलकर चलने लगे। मैं कुटिर के बाहर, आश्रम के द्वार तक उन्हें पहुंचा कर वापस लौटा.... पर वापस लौटते समय मैंने उनसे कहा कि 'आज तो हम सब यहीं पर रुक जायेंगे। कल आपसे जरूर मिलूंगा। उन्हों ने मेरे सामने स्नेहभर निगाह से देखा और त्वरा से वे अपनी कुटिर की ओर चले गये।

मैं वापस लौटा, पर ऋषिकुमार ने मेरा हृदय जीत लिया था। मुझे उस ऋषिकुमार में ऋषिदत्ता जैसे दर्शन होते थे। ऋषिदत्ता की मृत्यु के बाद यदि मेरा मन प्रफुल्लित हुआ हो, आनंदित बना हो, तो आज ही। इस ऋषिकुमार के आकस्मिक मिलन ने मेरे संतप्त हृदय पर जैसे चन्दन का विलेपन कर दिया था।

मैं मेरी कुटीर में आया। भोजन वगैरह से निवृत्त होकर आराम करने के लिए पलंग पर लेट गया। मेरा मन ऋषिकुमार में खोया हुआ था। मुझे विचार आया; 'क्या यह ऋषिकुमार मेरे साथ कावेरी नहीं आ सकते? यदि यह मेरे साथ रहे, हमेशा मेरे साथ रहे तो कितना अच्छा? कितना आल्हादक और मोहक व्यक्तित्व है उसका! उसकी

[illegible]दारी कितनी गहरी है! उसकी आंखों में प्यार छलकता है, उसकी बोली में जैसे अमृत छलकता हो! मैं उन्हें जरूर आग्रह करूंगा मेरे साथ आने के लिए....!'

परन्तु यह ऋषिकुमार है। वैरागी है। संसार के त्यागी हैं। वे मेरे साथ आने के लिए सहमत होंगे भी या नहीं? चाहे, मुझे उनके प्रति प्रेम हो गया पर उन्हें मेरे लिए प्यार जगा है या नहीं, यह तो मैं जानता ही कहां हूं? ऋषि-मुनि विरक्त होते हैं, वे संसारी जीवात्माओं के प्रति अनुरक्त नहीं बनते....।'

तो क्या मैंने विरक्त आत्मा से प्यार करके गलती की? पर.... मैंने प्रेम किया ही कहां है? प्रेम तो हो गया है। गत जन्म के संस्कार के कारण ही प्रेम हो गया है। जैसे मुझे उनके प्रति प्रेम हुआ, वैसे उन्हें मेरे लिए प्रेम नहीं हुआ होगा? कल मैं जरूर उनसे पूछूंगा! नहीं.... नहीं, कल क्यों? आज शाम को परमात्मा ऋषभदेव के दर्शन करने जाऊंगा तब उस ऋषिकुमार से मिलूंगा और पूछूंगा।

शायद वो कहेंगे कि: 'मुझे तुम्हारे लिए प्यार नहीं जगा है! तो? तो फिर मैं, उन्हें मेरे साथ चलने के लिए विनंति करूंगा। ऋषि-मुनि को चाहे संसार जीवों के प्रति स्नेह या प्रेम न हो, परन्तु करुणा तो होती ही है ना? वात्सल्य तो होता ही है ना? वे कठोर या निष्ठुर तो नहीं होंगे। मैं उन्हें कहूंगा: 'मेरे पर करुणा भाव रखकर भी आप मेरे साथ चलिए। मैं आपका उपकार मानूंगा।' वे कोमल हृदय के ऋषिकुमार हैं। मेरी प्रार्थना की अवगणना तो नहीं करेंगे।

विचारों के साथ आंख मिचौली खेलते-खेलते ही मैं निद्रा की

१५.

सूरज सांझ की गोद में सो गया था। क्षितिज पर दूर-दूर रंग बिरंगे फूल एक के बाद एक उभरने लगे थे। तरह-तरह के रंग-रंगीन पंखी अपने पंख फड़फड़ाते हुए अपने-अपने नीड़ के प्रति वापस लौट रहे थे। समग्र प्रकृति प्रसन्नता से पुलकित थी। चोतरफ सुहावना मौसम था। वैसे भी प्रकृति की गोद में स्थित इस आश्रम का वातावरण काफी लुभावना और आकर्षक था। उसमें भी सांझ की बेला में तो इस प्रदेश का अनूठा रूप निखर आता है। पत्थरों की शिलाओं में से भी संगीत के सूर टपकने लगते हैं। फूल-पौधे और पत्तियों पर भी हास्य की फूलझर छा जाती है।

जिनालय का श्वेत शिखर और उस पर उड़ती ध्वजा भूले-भटके राही को मानो राह दिखा रही थी : 'आइये, यहां आइये, यहां तुम्हें मन की शांति मिलेगी। आनन्द मिलेगा ...सही रास्ता मिलेगा.... जिन्दगी का अमृत मिलेगा। जिन्दगी को नया रूप-निखार मिलेगा....!'

मैं मेरे वस्त्र-कुटीर में से बाहर निकलकर, एक स्वच्छ मैदान में आकर खड़ा था। प्रकृति की सुन्दरता ने मेरे तन-मन में प्रफुल्लितता

के फूल खिला दिये थे। मुझे आराध्य देव परमात्मा ऋषभदेव के दर्शन करने के लिए जाना था, और साथ ही ऋषिकुमार को मिलकर मेरे साथ कावेरी आने के लिए उन्हें मनाना भी था।

मैं मन्दिर पहुँचा। मन्दिर के प्रथम सोपान पर ही मैंने उन कोमल फिर भी धीर-गंभीर ऋषिकुमार को खड़े हुए देखा। मैं जल्दी-जल्दी आगे बढ़ा और ऋषिकुमार का अभिवादन किया। ऋषिकुमार ने भी दाहिना हाथ ऊँचा कर के, चेहरे पर स्मित बिखेरते हुए मेरा स्वागत किया।

'राजकुमार, मैं तुम्हारी ही राह देख रहा था यहां खड़े खड़े। चलें, अपना परमात्मा की आरती उतारें।'

'आभार आपका, आरती उतारने में तो मुझे काफी आनन्द होगा।'

'अन्तःकरण की अरति भी दूर होगी' ऋषिकुमार ने मेरे सामने देखा, कुछ स्मित उनके होठों पर बिखर आया और मेरा हाथ पकड़कर वे मन्दिर के सोपान चढ़ने लगे।

ऋषिकुमार ने मेरा हाथ पकड़ा था। मुझे उनके कर-स्पर्श से रोमांच की अनुभूति हुई। वह स्पर्श मुझे अत्यन्त प्रिय लगा। उस स्पर्श में जो कोमलता-मासूमीयत थी वैसा ही अनजान खींचाव भी था। मुझे पल भर हुआ कि ऋषिकुमार मेरा हाथ न छोड़ें तो अच्छा।' पर 'निसीहि' बोलकर, दो हाथ जोड़कर, मस्तक झूकाकर मन्दिर में हमनें प्रवेश किया....उन्होंने मेरा हाथ छोड़ दिया था।

ऋषिकुमार ने आरती तैयार की और मेरे हाथ में दी। मैंने भक्ति-पूर्ण हृदय से परमात्मा की आरती उतारी....मेरा हृदय आनन्द से छलकने लगा। ऋषिदत्ता के साथ मैं जब आरती उतारता था तब मुझे ऐसी ही संवेदनाएं जगती थी। मेरी स्मृतियों का काफ़िला सिसकने लगा। उस काफ़िले में से ऋषिदत्ता की आकृति उभर आयी....। मैंने ऋषिदत्ता को परमात्मा के चरणों में झुकते देखा।

"चलिए राजकुमार, अब अपन आश्रम में जायें...।' ऋषिकुमार के शब्दों ने मुझे स्वप्न सृष्टि में से बाहर निकाला। हम पुनः परमात्मा को प्रणाम करके मन्दिर से बाहर निकले। सोपान-पंक्ति उतरकर हम मैदान में आये। खड़े रहे। पलभर हम दोनों मौन रहे।

'आज आप मेरे साथ मेरी कुटिर में आयेंगे ?' मैंने ऋषिकुमार को दो हाथ जोड़कर नतमस्तक बनकर विनंति की।

'क्यों ? किसलिए ?'

'मुझे तुम्हारे साथ ढेर सारी बातें करनी है। आज की रात तुम मेरे साथ बिताओं वैसी मेरी इच्छा है।' मैंने ऋषिकुमार के सामने देखा। रात का अंधेरा गहन बनता जा रहा था। नजदीक के मेरे पड़ाव की बाहर की मशालों का मद्धिम प्रकाश आश्रम में आ रहा था।

'चलें कुमार, मैं तुम्हारा आग्रह नहीं टाल सकता।' मुझे काफी आनन्द हुआ। ऋषिकुमार को गले से लगाने का दिल हो आया.... पर मर्यादा के बंधन ने मुझे रोक दिया। कुछ भी हो, आखिर तो वे त्यागी पुरुष थे और मैं भोगीपुरुष था। वो ऋषि थे, मैं संसारी

जीवात्मा था। मेरे प्रेम के अतिरेक में औचित्य भंग न हो, उसकी मुझे जागृति थी!

हम दोनों चलकर मेरी पटकुटिर में आये। प्रहरीओं ने नमन किया और वे कुटिर से कुछ दूर जाकर अपने नियत स्थान पर खड़े रह गये। मैंने ऋषिकुमार से दुग्धपान करने के लिए प्रार्थना की, पर उन्होंने कहा:

'मैं रात के समय भोजन नहीं करता हूँ। दुग्धपान भी नहीं करता हूँ। जलपान भी नहीं करता हूँ।' एकदम साहजिक रूप से उन्होंने कहा! मैंने भी दुग्धपान करने का इरादा छोड़ दिया। पानी पी लिया और हम दोनों एक ही काष्ठासन पर बैठे। मैंने एक काष्ठासन पहले ही से मेरी कुटिर में रखवा दिया था। कुटिर में दो सुन्दर दीपकों की झिलमिलाहट फैल रही थी।

'ऋषिकुमार! सचमुच, यह धरती....यह आश्रम मुझे बहुत पसंद है। मैं पहले भी इस आश्रम में आया हूँ। कुछ समय यहाँ रुका भी था।'

'जब राजर्षि जिन्दा थे तब आये होंगे!'

'हां, राजर्षि के अग्निप्रवेश का मैं साक्षी हूँ।'

'अच्छा, तो उनकी पुत्री....'

'हां, उनकी पुत्री ऋषिदत्ता के साथ मैंने ही यहां पाणिग्रहण किया था और उसे रथमर्दन नगर ले गया था....।'

'अभी वह तुम्हारी पत्नि तुम्हारे साथ नहीं है, क्यों ?'

ऋषिकुमार के इस प्रश्न ने मेरे दिल को हिला दिया। हृदय में झुनझुनी सी फैल गयी और आंखे गीली हो गयी। मै ऋषिकुमार को क्या जवाब दू ?

'नहीं, वह अभी मेरे साथ नहीं है।' मेरा स्वर कांपने लगा था।

'कुमार, यह बात तुम्हारी व्यक्तिगत है। मुझे ऐसा नहीं पूछना चाहिये, फिर भी तुम्हें ऐसा पूछकर मैंने दुःख पहुँचाया है, मुझे क्षमा.... मैंने ऋषिकुमार के मुँह पर हाथ रखकर आगे बोलने से रोकते हुए कहा : 'ओ मेरे, आत्मीय बन्धु, तुम पूछ सकते हो, जो जी में आये तुम पूछ सकते हो। मेरे जीवन की हर एक बात तुम्हें पूछने की इजाजत है। तुम्हारे प्रश्न ने मुझे पीड़ा नहीं दी बल्कि ऋषिदत्ता....हां मेरी ऋषिदत्ता की याद मुझे हर पल, हर क्षण रुलाती रही है।' मेरे उत्तरीय के छोर से मैंने आंखों के किनारे पोंछे। मेरे अवरुद्ध कंठ को साफ करने के लिए पानी पिया और स्वस्थ हुआ।

'ऋषिकुमार ऋषिदत्ता को मैंने प्यार तो दिया ...मेरा हृदय.... अरे, मैंने मेरी पूरी समग्रता से ऋषि को प्यार से सरोबर कर डाला, पर दुनिया के दकियानूसी जुल्मों से मैं उसे बचा न सका। जान से ज्यादा चाहने पर भी मैं उसकी जान बचाने में असफल रहा....। मै हतभागा और निःसत्त्व हो गया उस समय....।'

ऋषिकुमार के चेहरे पर ग्लानि, आश्चर्य और वेदना के मिश्र भाव उभर आये। वो मेरे सामने टकटकी बांधे देखते रहे। मौन

आश्वासन और खामोशी की चादर में लिपटी सहानुभूति से मुझे निहारते रहे....।

मैंने उनसे ऋषिदत्ता के साथ शादी से लेकर, उस पर कैसा कलंक आया, जोगन के कहने से पिताजी ने कैसी तलाश करवायी.... किस तरह ऋषिदत्ता पर जुल्मों की दीवारे चुन दी गयी....और अंत में उसे जल्लादों के साथ सौंप कर श्मशान में भिजवा दिया गया....मैं विवश होकर नियति की इस क्रूर मजाक को सहता रहा ...यह सब कह सुनाया। इसके बाद मेरे दिन .. मेरे जीवन का हर एक पल कितने दर्द और गम की गोद में सुबकते हुए बीते....दिन-रात उसी का विचार.... उसी की तस्वीर....। यह सब रोती आंखे और रोते दिल के साथ उन्हें बता दिया। मेरा दिल कुछ हलकापन महसूस करने लगा। शायद जिन्दगी में से ऋषि की अलविदा के बाद मेरा दिल पहली बार इतना खुल पाया था।

इसके बाद कावेरीपति के आग्रह पर, रुक्मिणी के साथ शादी करने के लिए पिताजी ने मां के द्वारा कितना आग्रह करवाया....यह सारी बातें कहीं। ऋषिकुमार के आगे जैसे में अपने ही आप खुलता जा रहा था। आखिर में मैंने कहा :

'मेरे दिल में रुक्मिणी के प्रति किसी भी तरह का प्यार या अपनत्व नहीं जगा है। मात्र मां के आग्रह से और पिताजी के बंधन से छूटने के लिए ही कावेरी जाने का मैंने स्वीकार किया। और फिर रास्ते में यह आश्रम आने की वजह से, चूंकि मेरा दिल इस धरती के साथ हमेशा के लिए जुड़ा हुआ है, इसलिए मैं कावेरी जाने निकला हूँ। और देखिए आश्रम में आने का सबसे बड़ा फायदा...तुमसे इस तरह

अचानक मिलना....। कितना अजीब फिर भी अद्भुत है तुम्हारा मिलन।

करीब एक प्रहर तक मैं ऋषिकुमार के साथ मेरी आपबीती की गलियों में ही घूमता रहा। ऋषिकुमार ने पूर्णतया खामोश रहकर बहुत अपनत्व से मेरी बातें सुनी....और बाद में उन्होंने कहा :

'कुमार! सचमुच, तुम्हारे जीवन की यह काफी करुण दुर्घटना है पर संसार में यह सब शक्य है, संभाव्य है। पापकर्म का उदय किसी भी जीवात्मा को नहीं छोड़ता है। ऋषिदत्ता के ऐसे किसी दुष्कर्म का उदय आया और उस निर्दोष-बेगुनाह स्त्री को ढेर सारी असहानीय यातनाएं सहनी पड़ी... मौत के मुँह में जाना पड़ा। अलबत्ता, तुम्हारे दिल में इस बात का काफी दर्दो-रंज हो, यह शक्य है, पर अब तुम्हें स्वस्थ हो जाना चाहिए....ऋषिदत्ता का शरीर नष्ट हुआ होगा....पर उसकी आत्मा तो अमर है....आत्मा का आत्मा के साथ का प्यार-प्रेम ही तो अक्षुण्ण और शाश्वत् रह सकता है।'

कुछ पल खामोशी का साया छाया रहा। रात के दो प्रहर बीत चुके थे। अभी मुझे ऋषिकुमार से महत्त्व की बात करनी तो बाकी ही थी। मैंने मेरी वह बात प्रस्तुत की।

'अब मेरी आपसे एक बिनती है।'

'कुमार, अब तुम्हें बिनती करने की जरूरत नहीं....मैंने तुम्हें अपना आत्मीय मित्र माना है, मित्र के पास बिनती नहीं की जाती।

'क्या सच ? तुम्हारे दिल में मेरे लिए प्यार जगा है ? ऋषि-कुमार कहिए क्या सचमुच मुझे तुम्हारी मैत्री मिलेगी ? मैंने ऋषिकुमार के हाथों को अपनी हथेली में बांधते हुए एकदम उनके निकट जाकर पूछा ।

'कुमार, तुम्हें जब से देखा है, तब से तुम्हारे लिए मेरे दिल में प्यार जगा है । मैंने तुम्हें अपना आत्मीय मित्र माना है हालांकि, मानता हूँ एक ऋषि के नाते मुझे तुमसे या किसी भी संसारी जीवात्मा से प्यार करना या ममत्व में बंधना उचित नहीं है । चूंकि आखिर प्रेम यह भी एक बंधन है और बंधन वही संसार है....। मुक्ति के यात्री को बंधन बांधने नहीं चाहिए । उसे तो बंधन तोड़ने होते हैं । फिर भी, मुझे तुम्हारे प्रति स्नेह पैदा हो गया है, यह सच है ।'

ऋषिकुमार की बातें सुनकर मेरी आंखों में खुशी के आंसू छलक आये । ऋषिकुमार का आभार व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं थे । ऋषिकुमार ने मुझसे कहा :

'कहिए....तुम क्या कहना चाहते थे ?'

'तुम्हें मेरे साथ चलना होगा ।' मैंने सीधा ही कह डाला ।

'कहां ?'

'कावेरी ।'

'कावेरी ? वहां मैं ? पक्षियों के साथ होने वाली तुम्हारी बातों में ?'

'हाँ ।

'एक ऋषिकुमार के नाते मेरा शादी के प्रसंगों में आना अनुचित होता है कुमार ।'

'चाहे अनुचित हो...पर मेरे लिए....एक दुखी....संतप्त मित्र के खातिर अनुचित कार्य भी उचित होगा....।'

'ऐसा मत कहो कुमार, तुम्हारे दिल की खुशी, तुम्हारे भीतर की शांति के लिए मुझे हरसंभव प्रयत्न करना चाहिए । पर यह तो मैंने मेरी ऋषि-अवस्था का औचित्य-अनौचित्य बताया ।'

'तो फिर साथ आओगे ना ? हां बोल दो ऋषिकुमार ।'

ऋषिकुमार ने आँखें मूंद ली । उनके चेहरे पर गम्भीरता छा गयी । वे गहरे विचार में खो गये । मैं उनके प्रत्युत्तर की राह देखता हुआ....उत्सुकता भरे हृदय और प्रतीक्षा भरी निगाहों से उन्हें ताकता रहा ।

कुछ पल बीते, उन्होंने आंखें खोली । मेरे सामने देखा । उनकी आंखों मे मैंने ऋषिदत्ता का प्यार देखा । ऋषिदत्ता का आदर देखा । वैसी ही मासूमियत तैर रही थी उन आँखों की अथाह गहराई में । वही कोमलता....वही...प्यार की नमी....। वो बोले :

'कुमार, मानलो कि मैं तुम्हारे साथ कावेरी आऊं, पर रुक्मिणी के साथ तुम्हारी शादी होने के बाद मैं तुम्हारे साथ नहीं रह सकता ।'

'क्यों ? किसलिए साथ नहीं रह सकते ।'

'कुमार, आखिर तुम एक राजकुमार हो...तुम्हारे पिताजी राजा हैं। एक ऋषिकुमार के साथ एक वनवासी के साथ की दोस्ती इतना मेलजोल उन्हें पसंद न भी आये। रुक्मिणी को भी अच्छा न लगे यह सब. और जहाँ किसी के दिल को ठेस पहुँचती हो, बुरा लगता हो, वहां मुझसे, एक ऋषिकुमार से नहीं रहा जा सकता।'

पलभर के लिए मुझे झटका सा लगा। ऋषिकुमार की बात में मुझे सत्यांश लगा। शायद पिताजी इनकार करें: नाराजी व्यक्त करे तो? कहीं वे ऋषिकुमार का अपमान कर दे तो? ऋषिदत्ता के साथ पिताजी द्वारा किये हुए दुर्व्यवहार का पुनरावर्तन हो तो? पर मैंने ऋषिकुमार से कहा:

'तुम कावेरी तक तो चलो। लौटते समय अपन को इसी रास्ते से गुजरना है। उस समय, यदि तुम्हें रथमर्दनपुर आना अच्छा न लगे तो कुछ नहीं—तुम वहीं पर रुक जाना।'

ऋषिकुमार ने मेरे सामने देखा। उनके चेहरे पर स्मित सा झलक आया। उन्होंने कहा:

'कुमार, साथ रहने से तो अपनी मित्रता का स्नेह और भी मजबूत हो जायेगा। फिर जब जुदा होना होगा तब जुदाई का गम कितना सतायेगा, इसका सोचा है? तुम तो राजमहल में रहोगे जबकि मुझे तो वापस आश्रम का अकेलेपन का जीवन जीने का। इसलिए साथ आने का आग्रह छोड़ दो तो अच्छा!'

'नहीं, साथ तो आना ही है। आगे की बात आने पर सोचेंगे। ऐसा ही होगा कि मैं मेरा एक महल इस आश्रम की धरती पर खड़ा

करवा दूंगा । जब भी राजमहल में अच्छा नहीं लगेगा....यहां प
चला आऊंगा । जब तुम बुलाओगे मैं सभी कार्य छोड़कर चला आऊंगा।

मेरे अति आग्रह पर ऋषिकुमार ने मेरे साथ आने की हा
भरली। मेरे आनन्द की सीमा न रही।

रात का तीसरा प्रहर चल रहा था। हम दोनों साथ ही ए
पलंग पर सो गये। ऋषिकुमार ने मेरे कान के पास अपना मुँह लाक
कहा :

'कुमार, तुमने मुझे तुम्हारा अनुरागी बना डाला।'

'पर, तुमने तो मेरा दिल ही ले लिया उसका क्या ?'

'अब, वह वापस तो मिलने से रहा।'

'बहुत अच्छा।'

'तो फिर उस बेचारी रुक्मिणी को क्या दोगे ?'

'उसे दिल बिना का मात्र देह दे दूंगा।'

हम दोनों प्यार भरी बातों में खोये खोये न जाने कब निद्रा व
गोद में पहुँच गये।

१६.

प्रातः तड़के ही ऋषिकुमार ने हल्की थपथपाहट से मुझे जगाया और कहा : 'कुमार, चलें, अपन स्नानादि से निवृत्त होकर परमात्मा ऋषभदेव की प्रभातकालीन पूजा करलें।'

'ऋषिकुमार, तुम्हारा कहना यथार्थ है। परमात्मा की पूजा करके अपन यहाँ से कावेरी के लिए चल देंगे।' ऋषिकुमार के साथ मैं आश्रम में गया। वहाँ से हम दोनों एक सरोवर के किनारे पर गये और स्नानादि से निवृत्त होकर स्वच्छ एवं शुद्ध वस्त्र पहन कर, परमात्मा के जिनालय में जा पहुँचे। शुद्ध और सुगन्धयुक्त नीर से परमात्मा की प्रतिमा की अभिषेक पूजा की, अत्यन्त भक्ति संभृत हृदय से हमने परमात्मा के चरणों में फूल चढ़ाये। पूजन करते समय मेरे रोंये-रोंये में सिहरन फैल उठी। पलकों के किनारे खुशी के आंसुओं का तोरण रच गया....मैंने जब अपने दुपट्टे से पलकों को पोंछा तब ऋषिकुमार ने कनखियों से मेरी तरफ झांका एक पलभर के लिए। हमने साथ ही एक सुर और एक लय से परमात्मा की स्तवना की और परमात्मा को नमन करके हम मंदिर की सीढ़ियाँ उतरने लगे। उतरते समय मेरे होठों पर छायी हुई खामोशी की पर्त को हटाते हुए ऋषिकुमार ने धीमी आवाज में पूछा :

'कुमार, क्या अब भी तुम्हारे दिल का दर्द हल्का नहीं हुआ ?'

'क्यों, तुमने कैसे जान लिया की मेरा दिल अब भी रंजो-गम से भारी है ?'

'यह तुम्हारी गीली आँखें और भीगी पलकें ही कह रही हैं !'

'ऋषिकुमार, आँखों में आँसूओं का जनाजा ही नहीं आता ..कभी आँसूओं की बारात भी पलकों के शामियाने में उतर आती है। मेरी आँखों की नमी में किसी गम या घुटन का अंदेशा नहीं था बल्कि एक सुखद संवेदन ...एक न समझी जा सके वैसी अनजान अनुभूति का संदेशा था उन आँसूओं में।'

'अच्छा....यह बात है ? तब तो बहुत जल्द तुम्हें कुछ अच्छा सा लाभ या बड़ी सी प्राप्ति होनी चाहिए।'

'ऐसा ? हो भी सकता है....आखिर रुक्मिणी का लाभ तो होने ही वाला है !'

हाँ मेरा यही कहना है....तुम्हें जो मनपसंद होगा....जो तुम्हारा इच्छित होगा उसी वस्तु या व्यक्ति का मिलना होगा... यदि रुक्मिणी प्रिय है....तो उसका लाभ होगा ही ! चूंकि मैंने धर्मशास्त्रों में पढ़ा है और ऋषिपरम्परा से जाना है कि परमात्मा के दर्शन-पूजन या स्तवना के समय रोमांच की अनुभूति हो....खुशी के आंसू बह निकले या आँखों में नमी की बदली तैर आये तो इष्टप्राप्ति होती है....प्रिय का मिलन होता है।'

ऋषिकुमार की बात सुनकर मेरी समझदारी पर खामोशी का साया उतर आया। एक दीर्घ मौन का अवकाश मेरे पर झुक गया। ऋषिकुमार

की हंसती-खिलती मुखमुद्रा के सामने मेरी आँखें टकटकी बांधे रहीं। उनकी दोनों हथेलियों को अपने हाथों में भींचकर मैंने कहा :

'ऋषिकुमार, कनकरथ की जिन्दगी में एक ऋषिदत्ता के अलावा और न तो कोई प्रिय है ...और न ही कोई इष्ट है। बताओ, क्या मुझे मेरी ऋषि वापस मिल जायेगी ? बोलो ऋषिकुमार बोलो ! क्या मेरी जिन्दगी के जलते हुए रेगिस्तान में फिर से ऋषि की बहार आ सकेगी ?'

ऋषिकुमार की आँखें मुझ पर गड़ी रहीं। एक स्मित सा उभरा उनके होठों की पँखुरियों में और वे मेरा हाथ पकड़कर चलने लगे।

हमारी छावनी उठा दी गयी थी और प्रयाण के लिए सेना तैय्यार थी। मेरे सुहावने रथ को दो सुन्दर और सजीले घोड़ों के साथ जोड़ दिया गया था। पूरब की क्षितिज पर से सूरज काफी ऊपर को उठ गया था। उसकी किरनों का जाल अवनी को कैद किये जा रहा था। चार-पांच मृगछौने आकर मेरे रथ के इर्दगिर्द कौतूहल से घूम रहे थे। ऋषिकुमार ने प्यार से उनके माथे को सहलाया...उनकी पीठ पर दुलार किया और हम दोनों रथ पर आरूढ़ हो गये। मेरे रथ के आगे घुड़सवार का एक दस्ता चल रहा था, रथ के पीछे भी घुड़सवार और अन्य सैनिकों का दल चल रहा था। कावेरी का रास्ता अभी तीन दिन का और था पर ऋषिकुमार को साथ पाकर हमारा रास्ता जल्दी तय हो रहा था।

न जाने क्यों पर ऋषिकुमार के साथ भीतरी भावुकता का ऐसा लहर जुड़ गया था कि मैं मुक्त-मन से उनके साथ बातें किये जा रहा था। आज सुबह में मंदिर की सीढ़ी पर कही उनकी बात अभी भी मेरे दिलो-दिमाग पर दस्तक दे रही थी। उसमें भी उन्होंने कहा हुआ 'अकिंचन'

शब्द तो मुझे विशेष याद था। उनके पास धर्मग्रन्थों का विशिष्ट ज्ञान है यह मैं समझ चुका था। इसलिए मैंने मेरे मन में उभरते प्रश्न को उनके सामने रख ही दिया :

'ऋषिकुमार, क्या तुम यह बता सकते हो कि निर्दोष और बेगुनाह ऐसी मेरी ऋषिदत्ता पर इस तरह का झूठा इल्जाम क्यों आया? उस पर इतना जुल्मो-सितम क्यों ढाया गया?'

ऋषिकुमार ने मेरे सामने देखा। आंखें मूंद ली और कुछ पल मौन रहकर वो बोलने लगे : 'कुमार, यह संसार.. यह दुनिया अनादि है और उसमें रहने वाली जीवात्माएं भी अनादि हैं। मन से, वाणी से, और वर्तन से आत्मा अच्छे या बुरे कर्म करती है उसी अनुसार वे जीव पुण्य कर्म और पाप कर्म बांधते हैं। बंधे हुए कर्मों का फल उसी जन्म में या जीवन में मिले वैसा नियम नहीं है, बाद के किसी भी जन्म में वे कर्म उदय में आते हैं और उसका भला या बुरा नतीजा उन्हें मिलता है। पुण्यकर्म के उदय से सुख-सुविधा मिलती है तो दुष्कर्म-पाप-कर्म के कारण दुःख और दुविधा प्राप्त होती है। बिना पाप कर्म के उदय के दुःख कभी नहीं आता।

वर्तमान जिन्दगी में मनुष्य ने किसी भी तरह का गुनाह न किया हो, वो पूर्णतया बेगुनाह हो फिर भी गत जन्मों के पाप कर्मों का उदय हो तो उस मनुष्य के जीवन में दुःख आयेंगे ही। इसी तरह....वर्तमान जीवन में मनुष्य ने काफी दुष्कर्म किये हों फिर भी अगर पूर्व जन्म के पुण्यकर्म उदित हैं तो उसे वर्तमान में सुख ही मिलेगा।'

ऋषिकुमार ने मेरे सामनेदेखा । मैंने. कहा : 'ऋषिकुमार, क्या तुम यह कहना चाहते हो कि ऋषिदत्ता को जो दुःख आया वह उसके गत जन्मों के पापों के कारण आया ?'

'हां, बिलकुल सही बात है यह । पूर्व जन्म में....किसी भी गत जीवन में उसकी आत्मा ने किसी निर्दोष जीवात्मा पर इल्जाम रखकर, ऐसा पापकर्म बांधा होना चाहिए । इसके अलावा उस पर ऐसा कलंक नहीं आ सकता ।'

'उसने पूर्व जन्म में किस पर कलंक रखा होगा ?'

'वह तो कोई अवधिज्ञानी या केवलज्ञानी (एक प्रकार का विशिष्ट एवं सर्वोपरिज्ञानी) ही बतला सकते हैं । मेरे पास तो वैसा विशिष्ट ज्ञान नहीं है....इसलिए मैं तो बताने में असमर्थ हूं ।'

'तो क्या ऋषिदत्ता ने जिस पर इल्जाम लगाया होगा उसी आत्मा ने इस जीवन में ऋषिदत्ता पर कलंक लगाया होगा ?'

'नहीं, कुमार ऐसा नियम नहीं है, कलंक आये जरूर पर किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा भी आ सकता है ।'

'कलंक रखने वाला....निर्दोष को दोषित सिद्ध करने वाला स्वयं कलंकित हो ही, ऐसा क्या चौकस नियम है ?'

'नहीं, कलंक रखने वाले को यदि इल्जाम लगाने के बाद लगे कि 'मैंने यह गलत कार्य किया है... निर्दोष को... बेगुनाह को गलत ढंग से परेशान किया है,' और वह यदि क्षमा मांगे, पश्चाताप व्यक्त करे

और प्रायश्चित करे तो उसके द्वारा बांधे हुए पाप कर्म टूट भी सकते हैं।'

मैं मौन रहा। मेरे लिए यह तत्त्वज्ञान की बातें नयी-नयी थी। फिर भी मैं उन बातों को भली भांति समझ पा रहा था। ऋषिकुमार की बातें बुद्धिगम्य थी। 'कारण के बगैर तो कार्य हो ही नहीं सकता', यह बात बिल्कुल सीधी-सादी थी। मैं जानता था कि वर्तमान जिन्दगी में ऋषिदत्ता ने किसी पर भी गलत इल्जाम नहीं लगाया था। किसी भी जीवात्मा पर उसने गुनाहों की चादर ओढ़ायी नहीं थी फिर उस पर अपराधी का जो इल्जाम लगाया गया, उसके पीछे भी कोई कारण तो होना ही चाहिए। उस कारण को जानने का ज्ञान मेरे पास नहीं था ··ऋषिकुमार के पास भी वैसा ज्ञान नहीं था····इसलिए यह जिज्ञासा मन की मन में ही बनी रही।

'ऋषिकुमार, अब तो उसका वह पापकर्म खत्म हो गया होगा न ?'

अपन सोच सकते है ··कि उसका वह पाप कर्म खत्म हो गया होना चाहिए, निश्चित रूप से नहीं कह सकते। यदि पूरा खत्म न हुआ हो तो बाकी का इस जनम में या अगले जनम में भी भुगतना पड़े।'

'इस भव में तो अब वह किस तरह भुगतेगी ? जल्लादों ने उसे मौत के घाट उतार दी·····'

'कुमार, अब तुम उस दुःखद घटना को याद मत करो···उसे भूल जाओ!'

'इस जीवन में मैं उस दुर्घटना को कैसे भूल सकता हूं""ऋषि-कुमार ? मैं समझता हूं कि उन घटनाओं की यादों में रहते मुझे ऋषिदत्ता नहीं मिलने की""फिर भी उसकी यादों में दिल खो ही जाता है। उसे भूलना""उसकी कल्पना को""उसकी स्मृति को झूठलाना मुमकिन नहीं ! पत्थर पर लकीर शायद मिट जायं पर ऋषि की स्मृति नहीं सिमटने की।'

'ऐसी दुःखद और दर्दों गमभरी यादों के मुरझायें हुए फूलों को संजोये रखने से क्या मिलने का ? क्या इन्हीं स्मृतियों की गलियों में घूमते हुए शादी करने के लिए जाने का है ?'

'यह शादी तो मात्र पितृ आज्ञा के पालन के लिए ही है। मेरा हृदय इस शादी को कभी कबूल नहीं करेगा। इस शादी की झिलमिलाहट शायद रुक्मिणी को आनन्द दे सकेगी, मेरे लिए तो यह दुःखद ही होगी।'

'कुमार, इस संसार में हर्ष और विषाद""खुशी और गम, आनन्द और उद्वेग के""असंख्य द्वन्द्व चलते ही रहते हैं""राग और द्वेष की मौजे उछलती रहती हैं""संसार के सागर में ! उसमें कहीं भी शाश्वत् शांति नहीं है अविनाशी आनन्द नहीं है""इसलिए वीतराग परमात्मा ने संसार को""संसार के सुखों को त्यागने का कहा है न ?'

'सच बात है तुम्हारी ऋषिकुमार ! द्वन्द्वों में अशान्ति ही होती है, निर्द्वन्द्व में ही शांति मिलती है। फिर भी द्वन्द्वों में मन लीन हो जाता है। संसार के क्षणिक सुखों का आकर्षण छूटता नहीं।'

भरी दुपहर का सूर्य सर पर आ गया था। भोजन के लिए हमारी यात्रा स्थगित हुई थी। छावनी फैल चुकी थी। ऋषिकुमार के साथ मैं मेरी वस्त्र कुटिर में जाकर भोजन की प्रतीक्षा करते हुए बैठा।

हम दोनों ने एक ही थाली में भोजन किया। एक घटिका के विश्राम के बाद हमने हमारी यात्रा को वहां से आगे बढ़ाया। रथ में दोनों करीब-करीब ही बैठे थे। कुछ समय मौन में बीता, फिर ऋषि-कुमार ने ही फैली हुई सर्द खामाशी को तरासते हुए कहा :

'कुमार, कुछ समझ में नहीं आता कि क्यों तुम्हारे प्रति मेरा मन इतना अनुरक्त हो रहा है? जिन्दगी में इतना प्रेम तो मैंने किसी के साथ नहीं किया था।'

'पूर्व जन्म का अपना कोई स्नेहसंबंध होगा।'

'वैसा ही मानना होगा।'

'पर तुम्हारे लिए अलग बात है।'

'क्या ?'

'तुम्हें जो प्यार मेरे प्रति है उससे कई ज्यादा प्यार ऋषिदत्ता से है! या कहो कि ऋषिदत्ता के प्रति ज्यादा था! क्यों सच न ?'

'तुम्हारे दृष्टिकोण से तुम सही होगे पर मुझे ऐसा लगता है कि तुम्हारे प्रति मुझे इतना ही अनुराग हो गया है कि जितना ऋषिदत्ता के प्रति था! अन्तर है मात्र शरीर का! वो स्त्री थी, तुम पुरुष हो!

तुम्हारे साथ मित्रता का अनुराग है....ऋषिदत्ता के साथ पति का अनुराग था।'

'पुरुष के साथ के प्रेम से क्या स्त्री के साथ का प्रेम प्रगाढ़ नहीं होता ?'

वैसा नियम नहीं है, कभी स्त्री के साथ के प्रेम से भी पुरुष के साथ का प्रेम ज्यादा प्रगाढ़ होता है। श्रीराम को सीताजी के साथ प्रेम था पर उससे भी ज्यादा प्रगाढ़ स्नेह लक्ष्मण के साथ था। लक्ष्मण के मृत देह को छह-छह महिनों तक अपने कंधों पर लेकर अयोध्या की गलियों में वे घूमे थे, जबकि सीताजी ने संसारत्याग किया और साध्वी-जीवन स्वीकार कर लिया फिर भी श्रीराम ने इतना कल्पांत नहीं किया था।

'कुमार, तुम सचमुच विचक्षण पुरुष हो।'
'और तुम ?' सच्चे तत्वज्ञानी पुरुष हो।'

हम दोनों मौन हो गये : दोनों के हृदय ज्यादा निकट आ चुके थे। मेरा मन एकदम सुख में लीन था। परन्तु मेरा कमजोर हृदय शंकित हो गया था। 'जैसी घटना....दुर्घटना ऋषिदत्ता के साथ हुई, वैसी दुर्घटना इस ऋषिकुमार के साथ तो नहीं होगी न ? अथवा यह ऋषिकुमार मुझे छोड़कर तो नहीं जायेंगे न ? कावेरी से ही वे चल देंगे तो ?' मेरा हृदय फड़क उठा....मेरे मुँह में से निःश्वास निकल गया। ऋषिकुमार ने मेरे सामने देखा :

'क्यों अचानक चेहरे पर गमगीनी छा गयी ?'

मेरी आँखें चूने लगी थी....और मेरा गला भर्रा गया था।

ऋषिकुमार ने हल्के हाथ से मेरी आंखें पोंछी और मेरे सर पर हाथ सहलाने लगे। फिर मृदु-मंजुल शब्दों में मुझसे कहा :

'कुमार, बीती बातों का गम सता रहा है या भविष्य की कोई चिन्ता व्यथित कर रही है ?

'भविष्य की अनिष्ट कल्पना से मेरा दिल दहल गया है।
'क्या मैं जान सकता हूँ वह कल्पना ?'
'अवश्य, उस कल्पना के केन्द्रबिन्दु तुम्हीं हो।'
'तो तो मैं ही तुम्हारी व्यथा में निमित्त बना।'
'उस व्यथा को दूर करना भी तुम्हारे ही हाथ है।'
'मेरे से शक्य होगा तो मैं अवश्य प्रयत्न करुंगा।'

'तुम मुझे इतना कह दो कि तुम मेरा त्याग करके नहीं चले जाओगे ?' ऋषिकुमार की आंखें अनंत आकाश में पथरा गयी। गहरे सोच में वे डूब गये। चेहरे पर चुप्पी का मखमली परदा छा गया था। मेरा मन ज्यादा सशंक बनता चला। मैंने ऋषिकुमार के दोनों हाथों को पकड़कर पूछा :

'क्या मेरी इस बात से तुम्हारे दिल को टीस पहुँची है ?

ऋषिकुमार ने मेरे सामने देखा। उनके चेहरे पर स्मित की चांदनी छिटकी। उन्होंने कहा : 'राजकुमार, मैं भला तुम्हें कैसे छोड़ सकुंगा ? हाँ, जब मेरे कारण तुम्हारे को पीड़ा होगी तब....' मैंने ऋषि-कुमार के होंठो पर अपनी हथेली रखकर उन्हें बोलते हुए रोक दिया।

'कुमार, यह संसार है। दुःखरूप संसार है। परिवर्तनशील संसार है। आज जो सुखद लगता है कल वह दुःखद भी हो सकता है। आज

जो दुःखप्रद मालूम होता हैं, शक्य है कल वह सुखप्रद भी हो जायें। इसलिए, इस संसार में ऐसी सभी संभावनाओं को समझकर, उन्हें स्वीकार कर जीना चाहिए। तुम जब प्राश्रम में से ऋषिदत्ता के साथ शादी करके तुम्हारे साथ उसे ले गये तब क्या तुम्हें कल्पना भी थी कि ऐसी दुर्घटना होगी ? हो गई न दुर्घटना ?'

ऋषिकुमार की एक एक बात मेरे समग्र व्यक्तित्व को आंदोलित कर रही थी। उनका एक एक शब्द मेरे अन्तरात्मा को रसनिमग्न बना रहा था। मैंने कहा :

'ऋषिकुमार तुम तो ऋषि हो ना ? तुम्हारे विचार, तुम्हारा चिंतन यथार्थ ही है परन्तु क्या सभी मनुष्यों के जीवन में ऐसी दुर्घटना पुनरावर्तित होती रहती हैं ? पापोदय के बाद पुण्य का उदय भी तो आता है न ? वर्ना मुझे तुम्हारा इस तरह का अचानक मिलना कैसे होता ?'

एक सुन्दर सुहावने प्रदेश में हम आ पहुँचे थे। कावेरी के राज्य का वह प्रदेश था। हमारा स्वागत करने के लिए कावेरीपति के प्रतिनिधि वहाँ उपस्थित थे। कावेरीनरेश के महामंत्री ने मेरा अभिवादन किया और कावेरी के महाराजा का संदेश दिया। कावेरी में हमारी प्रतीक्षा हो रही थी।

भोजन वगैरह से निवृत्त होकर हमने हमारी कुटीर में विश्राम किया। मेरा मन आनन्द से छलछल था। ऋषिकुमार भी प्रसन्नता से पुलकित थे। मेरी खुशी से मेरे सैनिक और मंत्रीगण भी प्रसन्न थे।

निश्चित दिन को हम कावेरी नगर के द्वार पर पहुँच गये।

१७.

महाराजा सुरसुन्दर ने हमारा हार्दिक स्वागत किया। शालीनता-पूर्ण ढंग से कावेरी में हमारा प्रवेश हुआ। हमारे ठहरने का प्रबन्ध एक सुन्दर श्वेतमहल में किया गया। महाराजा सुरसुन्दर स्वयं हमारी आगत-स्वागत के लिए ध्यान दे रहे थे। मेरी कुशलपृच्छा करके उन्होंने कहा :

'कुमार, महाराजा हेमरथ ने मेरी प्रार्थना को स्वीकार करके तुम्हें मेरी पुत्री रुक्मिणी के साथ शादी करने के लिए भेजा, उससे मुझे काफी खुशी है। महाराजा हेमरथ का स्नेह मैं कभी नहीं भूल सकता।'

अपनी पुत्री की मनोकामना पूरी हो रही थी, उसका आनन्द सुरसुन्दर के दिल में उमड़ रहा था। उनकी स्वयं की एक बहुत बड़ी चिन्ता दूर हो रही थी न? युवा लड़की की शादी न हो, उसे अच्छा सा घर-वर न मिले तब तक माता-पिता के दिल में एक बोझ सा बना रहता है। जब वह बोझ उतर जाता है तब वे चैन की सांस लेते हैं। उनके मन को हल्कापन प्रतीत होता है।

मेरे साथ ऋषिकुमार को देखकर शायद उन्हें विस्मय हुआ होगा, इसलिए महाराजा सुरसुन्दर ने पूछा :

'कुमार यह ऋषिराज कौन है ? और आपके साथ कैसे......?' 'महाराजा, यह ऋषिकुमार मेरे दिलोजान दोस्त हैं। रास्ते में मिलना हुआ। दोस्ती की डोर में हम दोनों बंध गये और मैं इन्हें अपने साथ यहाँ खींच लाया !' मैंने जवाब दिया महाराजा को और निगाह डाली ऋषिकुमार की ओर ! ऋषिकुमार के चेहरे पर हंसी की छाया छा रही थी। मैं हंस पड़ा। महाराजा के चेहरे पर भी हास्य बिखरा और वे बोल उठे : 'कुमार, दोस्ती की पसन्दगी के लिए तो तुम्हें दाद मिलनी ही चाहिए ! 'आकृतिः कथयति गुणान्' मनुष्य की आकृति गुण-दोषों का कथन करती है। सचमुच, ऋषिकुमार का व्यक्तित्व लगता ही ऐसा है कि पहली नजर में ही मैत्री का तारमैत्रक रच जाय !'

महाराजा ने हमारे साथ ही भोजन किया और सब तरह की व्यवस्था जमा कर उन्होंने विदा ली।

श्वेत महल में मैं और ऋषिकुमार ही थे। हमारे परिचारक थे। इनके अलावा जो लोग मेरे साथ थे उनके ठहरने का प्रबन्ध एक अन्य महल में किया गया था। हम दोनों सोये-सोये एक दूसरे की ओर देख रहे थे। अगले ही दिन रुक्मिणी के साथ शादी करने की थी। ऋषि-कुमार ने नीरवता को अपने शब्दों से तोड़ा।

'कुमार, क्या तूने रुक्मिणी को देखा भी है ?'

'नहीं तो !' ऋषिकुमार का इस तरह का प्रश्न मुझे समझ में नहीं आया।

'वाह, तो क्या बिना देखे ही उसके साथ शादी करोगे ? कहना होगा, पितृभक्ति तो कोई तुमसे सीखे ! पर कुमार, यदि शादी के बाद रुक्मिणी पसन्द न आयी तो ?'

ऋषिकुमार की खिलखिलाहट घंटियों की भाँति गूंज उठी। मैंने भी हँसना रोका और बड़ी संजीदगी से उनसे पूछा :

'क्या तुम्हें कुछ गोपनीय समाचार मिले हैं क्या ? रुक्मिणी कोई विकलांग या ऐसी वैसी तो नहीं है ना ? ऐसा कुछ हो तो भई, अभी कह देना ! तो रात को ही यहाँ से नौ दो ग्यारह हो जायें !'

'नहीं ऐसी कोई बात नहीं है, पर ऐसे महत्वपूर्ण कार्य में सावधानी तो बरतनी ही चाहिए ? लूली-लंगड़ी तो नहीं होगी पर यदि काली-कलूटी हुई तो क्या पसन्द आ जायेगी ?' अभी भी ऋषिकुमार के होठों पर से हास्य के फूल ही झड़ रहे थे...शायद आज वे बिल्कुल हँसी-मजाक में डूबे थे। मैंने उनसे कहा :

'ऋषिकुमार, तो फिर ऐसा क्यों नहीं कि यह काम तुम ही कल कर देना। भिक्षा के बहाने राजमहल में पहुँच जाना और कहना कि 'मैं तो राजकुमारी के हाथों ही भिक्षा लूंगा, और उसे आशीर्वाद दूंगा।' एक मित्र के लिये इतना काम तो कर देना होगा।'

'पर मेरी पसंदगी या नापसंदगी से तुम्हारी पसंदगी या नापसंदगी अलग भी तो हो सकती है और फिर एक ऋषि की पसंदगी और एक राजकुमार की पसंदगी दोनों के बीच अन्तर तो होगा ही। हमारी पसन्दगी का माध्यम रूप नहीं पर गुण होते हैं जबकि सामान्यतः लोग रूप के माध्यम से पसन्दगी करते हैं।'

ऋषिदत्ता में रूप और गुण दोनों का समन्वय था !'

'जनाब ! मैं अभी रुक्मिणी की रामायण पढ़ रहा हूँ और एक तुम हो कि ऋषिदत्ता की कथा कहे जा रहे हो ! अच्छा, रुक्मिणी में रूप होगा और गुण नहीं हुए तो ? गुण हुए और सौन्दर्य नहीं हुआ तो ?'

'ऋषिकुमार, जाने दो ना ये सारी बेतुकी बातें ! मुझे कहाँ यह सब सोचना है ? मुझे तो मात्र उससे शादी करके रथमर्दनपुर ले जाना है ! वहाँ उसे रहने के लिए एक महल दे दूंगा....नौकर-चाकर दे दूंगा !'

'और तुम उसके पास नहीं रहोगे, ऐसा ? यह सरासर धोखा नहीं होगा ? केवल अपने पिता के सन्तोष के खातिर तुम एक राजकुमारी की जिन्दगी से खेल रहे हो यह क्या उचित होगा ?'

'तो फिर राजकुमारी को मेरे साथ शादी करने की जिद नहीं करनी चाहिए न ? वो तो मेरे साथ ही शादी करने का ठान बैठी है !'

'राजकुमार मुझे ऐसा लगता है कि तुम रुक्मिणी के साथ मिलकर इस बात की स्पष्टता करलो ! तुम्हारी बातें सुनकर भी यदि वो तुम्हीं से शादी करने की हठ करें तो फिर ठीक है !'

'पर अब तो इतना अवकाश भी कहाँ है ?'

'तो फिर उसके प्रति तुम निष्ठुर मत बनना !'

मैं ऋषिकुमार के सामने ही देखता रहा। ऋषिकुमार भी टक-टकाते हुए मेरे सामने देखते रहे। हम दोनों के बीच खामोशी की एक दरार लम्बी होती जा रही थी। मेरी समझ में नहीं आया कि ऋषिकुमार क्यों रुक्मिणी के लिए इतनी सहानुभूति जता रहे है ? पर मैंने अपना

समाधान सोचा : 'चाहे कुछ भी हो, आखिर तो वे एक वैरागी जीव है न ? करुणा तो उनके हृदय में होगी ही ! उस करुणा से प्रेरित होकर ही ऋषिकुमार ने ये बातें की होगी ! किसी की आत्मा को पीड़ा हो यह ऋषिकुमार के दिल को कबूल न हो ! मैंने खामोशी की दरार को पाटते हुए ऋषिकुमार से कहा :

'ऋषिकुमार, तुम्हारी बात मानता हूँ, रुक्मणी के प्रति निष्ठुर व्यवहार नहीं करूंगा ।'

ऋषिकुमार के चेहरे पर सन्तोष की रेखाएं उभरी । मुझे भी आनन्द हुआ और न जाने इसी तरह बतियाते-बतियाते हम देर रात को सो गये ।

× × × ×

कावेरी के एक-एक रास्ते को सजाया गया था । घर-घर पर तोरण बंधे थे । रास्तों पर सुगन्धित पानी छींटा गया था । कावेरी के नागरिकों में आनन्द हिलोरें ले रहा था । जगह-जगह पर शादी के गीत गाये जा रहे थे । राजमहालय की शोभा तो देखते ही बनती थी । राजपरिवार के बीच आनन्द-उल्लास और प्रसन्नता की फुलझड़ियाँ खिल रही थी ।

राजपुरोहित ने मंत्रोच्चार किया और मेरे हाथों में रुक्मिणी का हाथ रख दिया गया । मैं रुक्मिणी के साथ लग्न बंधन से बंध गया । रथ में बैठ कर हम दोनों हमारे श्वेत महल में चले आये ।

मैंने महल में ऋषिकुमार को खोजा पर वे मिले नहीं । परिचारिका से मालूम हुआ कि वे तो बाहर गये हैं और सूचना देते गये हैं कि 'मैं कल सुबह वापस लौटूंगा ।'

ऋषिकुमार का औचित्यपालन और उनकी व्यवहार दक्षता से मैं प्रभावित हुआ। साथ ही उनके अल्पकालीन विरह से मैं व्यथित भी हुआ।

रात की सर्द खामोशी का साया आसमां से उतर कर जमीं पर छाने लगा था। चोतरफ शान्ति थी, ...वातावरण में महक थी। गीतों की ध्वनि और शहनाई के सुर जो कि शांत हो चले थे पर पूरा माहोल उन सुरों से आन्दोलित हो रहा था। मेरे महल की मुंडेर के दीये मद्धिम-मद्धिम से जल रहे थे। फूलों सजी सेज पर रुक्मिणी लाज में सिमटी-सिमटी बैठी थी। पर न जाने क्यों मेरा मन उसकी तरफ जरा भी अनुराग का अनुभव नहीं कर पा रहा था। न मेरे दिल में कोई भावनाओं की संवेदनाएं उठ रही थी।

जब मेरी निगाहें उसके चेहरे पर गयी तो वो भी मेरे सामने ही देख रही थी। उसके चेहरे पर स्मित उभरा....वो मेरे करीब सरक आयी और उसने खामोशी को चीरते हुए पूछा :

'नाथ, वह तपस्विनी ऋषिदत्ता ऐसी तो कैसी लावण्यमयी थी उसने आपका दिल चुरा लिया ?'

प्रथम परिचय में ही उसका यह प्रश्न सुनकर मैं सकपका गया। मेरे चेहरे पर उदासी का तूफान सा आ गया। मैंने आँखें मूंद ली। मेरी कल्पनाओं के कालीन पर ऋषिदत्ता की मासूम तस्वीर उभर आयी। मेरा हृदय वेदना के हिलकोरे लेने लगा। मैंने रुक्मिणी से कहा :

'तू ऋषिदत्ता के सौन्दर्य का वर्णन सुनना चाहती है तो सुन। मैंने उसके जैसा रूप इस धरती पर तो और किसी स्त्री में नहीं पाया।

शायद कामदेव की पत्नी रति भी ऋषिदत्ता को दासी बनना पसन्द करें। नागलोक की देवी तो ऋषिदत्ता के चरणों की धूलि सर पर चढ़ाना पसन्द करें।'

मैंने आँखें खोलकर देखा तो रुक्मिणी का चेहरा स्याह हुआ जा रहा था। उसकी आँखों की चमक जाती रही थी। वो गुस्से में अपनी हथेलियाँ मसल रही थी। मैंने उससे कहा : 'यह तो मेरा परम सौभाग्य रहा था कि मुझे वह राजर्षि की कन्या पत्नि के रूप में मिली। पर किस्मत को शायद मेरा यह सुख मंजूर नहीं था........और ऋषिदत्ता पर संकट के साये उतर आये........वो मुझसे दूर-दूर चली गयी।'

'तो क्या अभी भी आपको ऋषिदत्ता की याद आती है ?' रुक्मिणी के इस प्रश्न ने मेरे दिल की दुःखती रग को छू लिया।

'ऋषिदत्ता तो मेरे साँसों की हर धड़कन में खुशबू की तरह छुपी है। उसे भूलना मेरे लिए कतई संभव नहीं। यह तो एक संयोग है कि उससे मुझे बिछुड़ना पड़ा और तेरे साथ शादी करनी पड़ी।'

'तो क्या आप मुझे चाहते नहीं हैं ? क्या आप मुझसे प्रेम....?'

'चाहते.... ? और प्रेम.... ? वह तो ऋषिदत्ता के सिवाय किसी भी स्त्री के साथ संभव नहीं है.... ! प्यार एक ही से और एक ही बार होता है !'

'तो क्या उस ऋषिदत्ता के सामने मैं कुछ नहीं ?' रुक्मिणी पलंग पर से खड़ी हो गयी। गुस्से के मारे कांपने लगी।

'तू ? ऋषिदत्ता के आगे तो तेरा कोई अस्तित्व ही नहीं है !'

'मेरा अस्तित्व तो अब तुम्हारे साथ ही है। अस्तित्व तो नष्ट हो चुका है आपकी उस ऋषिदत्ता का! कैसी कलंकित और गुनहगार बन गयी तुम्हारी वह प्रियतमा? राज सभा में आयी हुई उस जोगन को आपने देखा था न? उसे मैंने ही भेजा था!'

रुक्मिणी की बातें सुनकर मैं स्तब्ध रह गया। मेरे रोयें रोये में आग सी लग गयी। मैं फटी-फटी आंखों से देखता ही रहा और वह बोले जा रही थी।

'जब तुम उस ऋषिदत्ता से शादी करके लौट गये, कावेरी नहीं आये, मुझे समाचार मिले, मेरे सुख को छीनने वाली उस जंगल की जोगन को मैं सुख में रहने दूं? मैंने सुलसा का सम्पर्क किया। वह मंत्र-तंत्र और जादू टोने में पारंगत जोगन है। किस तरह ऋषिदत्ता को फंसाना...उसकी योजना मैंने ही बना कर उसे दी थी!'

'रोजाना रात को उसका चेहरा खून से सना जाता था न? उसके तकिये के नीचे मांस के टुकड़े मिलते थे न? रोजाना नगर में एक व्यक्ति की हत्या होती थी न? उस हत्या का इल्जाम तुम्हारी उस प्रियतमा पर आया न? मेरे सुख को छपटने वाली की तो यही दुर्दशा होनी चाहिए!'

गुस्से के मारे बौखलाती हुई रुक्मिणी की सांसें तेज चलने लगी थी। मेरा सर घूम रहा था। शरीर की नसें तंग हो गयी थी। मेरा खून खौल उठा था। मेरे हाथ कांप रहे थे। यह तो गनीमत थी कि शयनगृह में कटारी या तलवार नहीं थी, वर्ना उसी समय मेरे हाथ स्त्री-हत्या के खून से रंग जाते।

मैं भी पलंग पर से खड़ा हो गया....उसके दोनों हाथों को मैंने

हाथों में जोर से पकड़कर चिल्लाया...... 'अरी डायन, तू ने खुद ऐसा भयंकर पाप करवाया। उस मासूम निर्दोष और निष्पाप ऋषिदत्ता का वध करवाया। उस महासती के प्राण तू ने तेरी दुष्ट इच्छा के खातिर ले लिये ? सच, तू ने अपने आपको तो नरक में डाला ही पर तू ने तो मुझे भी नरक में पटक दिया। तेरे स्वार्थ के लिए तू ने कितना भयंकर दुष्कृत्य कर डाला !'

मैंने दांत भींच लिये। एक हाथ से उसके दोनों हाथ पकड़कर दूसरे हाथ से बाल पकड़कर उसे झकझोरा। पलंग पर उसे पटक कर मैं शयनगृह से बाहर चला आया।

मेरा दिल अपार संताप से दहल रहा था। मैं असहनीय और अकथ्य वेदना से व्याकुल हो उठा था।

ऐसा दारुण स्त्री-चरित्र ? अपने स्वार्थ के लिए इस दुष्टा ने इतना कुछ कर डाला ? क्या यह इसका मेरी तरफ का प्रेम ? नहीं.... नहीं, यह प्रेम नहीं हो सकता। यह तो निरी वासना....निरी विषयांधता.... ।

यदि इसे मेरे प्रति प्यार होता तो वह मेरे सुख का विचार करती। उसने मेरा कोई विचार नहीं किया। उसने निर्दोष ऋषिदत्ता को ही रास्ते में से साफ करवा देने का घोर पाप किया। उसने सोचा : 'यह ऋषिदत्ता जब तक राजकुमार से दूर नहीं होगी तब तक वह राजकुमार मुझसे शादी करने नहीं आयेंगे और मुझे तो उस राजकुमार से ही शादी करना है। मैं उसकी वाग्दत्ता हूँ। वह कुमार मेरा है। उस पर यह आश्रम की कन्या कैसे डोरे डाल सकती है ?'

उसकी वासना धधक उठी और उसने बेगुनाह ऋषिदत्ता का भोग ले लिया। पर ऐसा करके भी वह क्या मुझसे सुख पा सकेगी।

क्या शादी करने मात्र से मेरा प्यार उसे मिल जायेगा ? ऐसी कुल्टा.... अधम नारी पर क्या प्यार हो भी सकता है ?

'हाय, ऋषि........ ? केवल मेरे कारण तेरी हत्या हुई........तू इस डायन रुक्मिणी की चाल का शिकार हो गयी। तेरे बिना मेरा जीवन तो वैसे भी व्यर्थ हो चुका है और फिर इतना जानकर भला अब मुझे किसलिए जीना है ? मुझे जीकर करना भी क्या है ? नहीं, अब मैं नहीं जी सकता। आग में कूद कर जान दे दूंगा !'

मैं वापस शयनगृह में गया। रुक्मिणी पलंग पर औंधी लेटी हुई रो रही थी। उसने अपने चेहरे को आंचल में छुपा रखा था। मैंने उससे कहा ; तू आनन्द से जीना........खुश होकर मजे करना। जिस रास्ते पर तूने मेरी ऋषि को धकेला, अब मैं भी उसी रास्ते पर चला जाऊंगा। सुबह होते ही जलती चिता में प्राणों की आहूति दे दूंगा !'

रुक्मिणी एकदम खड़ी हो गयी....पलंग पर से उतरकर मुझसे लिपटने के लिये बांहे फैलाकर आगे बढ़ी....मैंने उसे धक्का मारकर पलंग पर पटक दिया। उसे दुतकारते हुए मैंने कहा : 'अरी डायन, मैं तो तेरा काला मुंह देखना भी नहीं चाहता........मुझे छूने की कोशिश मत करना।'

मैं रुक्मिणी को वहीं छोड़कर बाहर आया। महल के झरोखे में जाकर खड़ा हो गया। कुछ पल बीते न बीते........इतने में पूरब की क्षितिज पर सुनहली रेखाएँ छंटने लगी........। अरुणोदय की आभा से क्षितिज आन्दोलित हुआ जा रहा था। मेरा मन बेचैन था। कहीं कोई किनारा नजर नहीं आ रहा था। बीच भंवर में फंसी किश्ती जैसी मेरी दशा हो गयी थी।

१८.

'दुनिया की कैसी विचित्रता है ! कितनी विडम्बना है ! अपने सुख के लिए एक मनुष्य दूसरे मानवी को दुःख की गहन खाई में धकेल देता है। अपने सुखमय जीवन की खातिर दूसरे जीवात्मा को मौत की गहरी नींद में सुला देता है। ऐसे दुःखद और दुःसह संसार से मुझे क्या लेना ! मुझे नहीं चाहिए ऐसा कलंकित सुख और नहीं चाहिए ऐसी पत्नि। मैं रूक्मिणी को छूने से तो रहा, मैं तो उसका चेहरा भी देखना नहीं चाहता। कितनी विचित्रता है विधि की ? खूबसूरती की ओट तले कितनी निर्दयता ? कितना वहशीपन है भीतर ? ऊपर से मुखौटा पहन रखा है शालीनता का। मैं कभी उसके गुनाहों को माफ नहीं कर सकता। कितना अक्षम्य और असह्य अपराध कर बैठी है वो ? पर मैं उसे कोई सजा भी नहीं देना चाहता। मुझे तो खुद अब दुनिया पर एतबार नहीं। मुझे अब जीना भी नहीं। आखिर किसके लिए जीना ? जिसके साथ जीने के सपने बुने थे वो ऋषि तो इस जन्म में मुझे नहीं मिलने की। मैं कायर....डरपोक उसे मरने से बचा नहीं सका। फिर मुझे जीने का हक भी क्या ?'

मेरा दिमाग घूम रहा था। मेरी सांसे गले में ही घुटने लगीं

थी। सारा शरीर पीड़ा की थरथराहट से कांप रहा था। मैंने मेरे अनुचर को बुलाकर कह दिया : 'नगर के बाहर चिता तैयार कर दो....मैं अग्निस्नान करूंगा....मैं अब जीना नहीं चाहता।' अनुचर यह सुनकर सन्न रह गया। वो कुछ समझ नहीं पाया कि आखिर बात क्या ....है। वो बेचारा पुतले सा खड़ा रहा। मैंने उससे पुन कहा : 'तू देर मतकर, जल्द जा और चिता तैयार करा दे।' उसकी आंखें बरबस बहने लगी। वो रो पड़ा। उसके रोने की आवाज सुनकर राजमहल के दूसरे अनुचर व परिचारिकाएं दौड़ आये। मुझे देखकर सभी सहम गये। सबके चेहरे स्याह हुए जा रहे थे मेरा निर्णय जानकर। 'नहीं, नहीं.... महाराजकुमार, ऐसा नहीं हो सकता, अग्निस्नान का इरादा भूल जाइये आप कहे तो अपन आज ही रथमर्दन नगर चले चलेंगे। पर आप इस कदर निष्ठुर मत बनिए, आखिर हम महाराजा और माताजी को क्या मूंह दिखायेंगे ?'

'नहीं, मुझे अब कहीं भी नहीं जाना है। पिताजी के पास भी नहीं, तू जाकर चिता रचा दे। अब मेरा जीना मुश्किल है।'

परिचारक घबरा गये। वे दौड़ते हुए गये राजा सुरसुन्दर के पास। समाचार पाकर राजा सुरसुन्दर शीघ्र मेरे पास दौड़ते हुए आये। मैं राजमहल की सिढ़ियां उतर रहा था कि वे आये और मुझे अपनी बाहुओं में भर लिया। मुझे वे महल के भीतर ले गये। सभी परिचारकों को दूर करके उन्होंने बड़े प्यार से मुझे कहा : 'कुमार मैं तो समझ नहीं पाता कोई कारण, पर तुमने अग्निस्नान करके की क्यों सोची ? क्या बात है ? कुछ भी हो, तुम्हें ऐसा स्त्रीसुलभ अकार्य नहीं करना चाहिए। चाहे कैसा भी दुःख हो, पर पराक्रमी पुरुष आत्मघात का विचार नहीं करता है। तुम स्वस्थ बनो...कुमार!

मैंने कहा : 'राजन्, अब स्वस्थ बनना मेरे बस की बात नहीं। मुझे जीने का कोई उत्साह नहीं है। सुबक-सुबक कर जीने की बजाय मैं मौत को ज्यादा पसन्द करता हूँ। आप मत पूछो कि इस निर्णय का कारण क्या है।'

महाराजा सुरसुन्दर की आँखें डबडबायी और वे रो पड़े। उनका स्वर गले में ही घुटने लगा। वे बोले : 'कुमार, यकायक ऐसा क्या हो गया ? मेरी कितनी बदकिस्मती ? मैं महाराजा हेमरथ को क्या मुँह दिखाऊँगा ? उन्हें जवाब क्या दूँगा ? नहीं नहीं कुमार, मैं तुम्हें किसी भी हालत में अग्नि में जल मरने नहीं दूँगा। चाहे कुछ भी हो। आसमान टूट गिरे या धरती धधक उठे ! फिर भी कुमार, मैं तुम्हें ऐसा कभी नहीं करने दूँगा।'

हमारी बात चल रही थी कि ऋषिकुमार ने हमारे खंड में प्रवेश किया, पर वे दरवाजे पर ठिठक गये। महाराजा ने कहा :

'आइये, आइये, मुनिकुमार, आप कहाँ चल दिये थे ? यहां तो बरबादी की नौबत आ रही है। ये तुम्हारे दिलोजान दोस्त न जाने क्यों सब पर गजब ढाने की ठान बैठे हैं।' महाराजा अपनी पलकों पर के आँसूओं को पोंछते हुए खड़े हो गये। ऋषिकुमार का स्वागत करके उन्हें मेरे समीप बिठलाया। ऋषिकुमार ने मेरे सामने देखा। मेरी आँखें जमीन पर गड़ी जा रही थी। महाराजा ने भीगे स्वर में ऋषि-कुमार से कहा :

'ऋषिकुमार, ये तुम्हारे दोस्त आग में कूदकर जल मरने की जिद पकड़े बैठे हैं, तुम इन्हें कुछ समझाओ। एक तुम ही इन्हें समझा सकते हो।'

मैंने आंखें उठाकर देखा तो राजा की बातें सुनकर ऋषिकुमार मन ही मन हंसे जा रहे थे ! उन्होंने मुझ से कहा : 'कुमार, आखिर बात क्या है ? मेरी अनुपस्थिति में ऐसा निर्णय क्यों ले लिया ?'

मैंने ऋषिकुमार की ओर देखा। ऋषिकुमार ने महाराजा की ओर देखते हुए उन्हें चले जाने का इशारा किया। महाराजा वहां से उठ कर चल दिये। ऋषिकुमार मेरे निकट आये। मेरे दोनों हाथों को अपनी हथेलियों में बांधते हुए एकदम आर्द्र स्वर में उन्होंने कहा :

'कुमार, क्या हुआ ? यदि मुझसे छुपाने जैसी बात न हो तो मुझसे कह दो।' मेरी आंख में अपनी आंखों से झांकते हुए उन्होंने बात की। मेरी आंखें डबडबागयी....। गले में घुटन सा लगा....। दिल एकदम धक से हो आया और मैंने टूटते स्वर में कहा :

'ऋषिकुमार, तुम्हें क्या बताऊं ? तुम से मेरी जिन्दगी का कोई राज छिपा नहीं है....। मैंने तुमसे कोई परदा नहीं रखा, पर जो कुछ हो चुका वह सब इतना अनहोना है कि तुम्हें यदि कह भी दूं तो सिवाय दर्द और दुःख के कुछ नहीं मिलेगा। मैं तुम्हें दुःखी करना नहीं चाहता।'

'पर दिल की दोस्ती तो एक दूजे के दुःख को भी हँस खेल कर गले लगाती है। मुझसे कह दो सब कुछ....तुम्हारा दिल हल्का हो जायेगा।'

राजमहल के झरोखों में से सुबह के सूरज की सुनहली किरनों का कारवां महल में फैला जा रहा था। फिर मेरा दिल वीरान था....। मूक एक अंतहीन उदासी व अनुताप से मेरी आत्मा भीतर ही भीतर

सिसक रही थी। मेरे सभी प्रभातिक कार्य बाकी थे....। अस्वस्थता.... उद्विग्नता और बेचेनी से मेरा मन बार-बार उत्तेजित हो रहा था....। फिर भी ऋषिकुमार का नैकट्य मुझे अच्छा लग रहा था। मुझे हो रहा था कि अमावस की अंधेरी रात जैसी मेरी जिन्दगी के आकाश में अब भी मैत्री का एक तारक टिमटिमा रहा है। मैंने मुनिकुमार से कहा :

'मुनिकुमार, आज रात को एक गुप्त भेद खुल गया। मेरी ऋषिदत्ता निष्कलंक सिद्ध हो गयी। वो मानवभक्षी न ही थी, और न हीं वह हत्यारी थी....उस पर जानबूझकर इल्जाम लगाया गया था।'

'क्या बात कर रहे हो? यह तुमने कैसे जाना? किसके पास से मिली यह बात!' मुनिकुमार की आँखें विस्मय से चकराने लगी।

'मैंने जाना रुक्मिणी के पास से। सारे षड्यन्त्र की सूत्रधार वो स्वयं थी। उसी ने ऋषिदत्ता को कतल करवाया।'

'क्या?' मुनिकुमार पलंग पर से खड़े हो गये। मैंने उनका हाथ पकड़कर उन्हें नीचे बिठाया और बताया :

'रुक्मिणी ने सुलसा नामक एक जोगन के सहयोग से लोगों के आगे ऋषिदत्ता को कलंकित किया। मेरे नगर में प्रतिदिन जो मानव हत्या होती थी वो भी जोगन का ही शिकार था। ऋषि के चेहरे को खून के दाग से भरने वाली और उसके तकिये के नीचे मांस के टुकड़े छुपाने वाली भी वही जोगन थी।'

'योगविद्या का इतना भयंकर दुरुपयोग?'

'हाँ, अयोग्य और अपात्र जीवात्मा किसी भी शक्ति का

सदुपयोग नहीं कर सकता है। स्वयं को मिली हुई शक्तियों का दुरुपयोग करके स्वयं अपना ही विनिपात कर डालता है।'

'सही बात है तुम्हारी कुमार! जोगन ने अपने तुच्छ स्वार्थ से प्रेरित होकर ऐसा भयानक कुकृत्य किया....बेगुनाह ऋषिदत्ता को....'

'मौत की खाई में धकेल दी"''ऋषिकुमार, मेरे दिल को यही बात दहला रही है....। रुक्मिणीने ने मुझे पाने के लिए, मेरे साथ शादी करने के लिए ऋषिदत्ता की जान ले ली....। और फिर उसे तो इस बात पर नाज है। वो गौरव का अनुभव कर रही है ऐसे कृत्य पर!'

ऋषिकुमार आँखे मूंदकर गहन विचार में डूब गये। मैं भी मौन हो गया। मेरा दिल भीतर ही भीतर धधक रहा था। आँखे रो रही थी....। ऋषिकुमार ने आंखें खोली और मेरे सामने देखा....। मैंने कहा :

ऋषिकुमार, अब मुझे जीने की कोई तमन्ना नहीं है। ऋषि-दत्ता का विरह मुझे अत्यन्त व्याकुल बना रहा है। मैं आग में जल मरना ही पसन्द करूंगा।'

'पर कुमार इससे क्या होगा? यह संसार है ही दुःखद! आग में कूदने मात्र से तुम संसार से तो नहीं छूट सकते....फिर दोबारा कहीं जन्म लेना होगा....वहां भी पाप-पुण्य का फल तो भोगना ही होगा। आत्महत्या कोई इस दुःख से छूटने का इलाज नहीं है....। वह तो और ज्यादा दुःखी बनने का रास्ता है!'

मैं मुनिकुमार की बात सुनता ही रहा। मेरे पास इसका कोई जवाब नहीं था। मुनिकुमार ने कहा :

'कुमार, क्या तुम यह मानते हो कि आत्महत्या करने से दूसरे जनम में तुम्हें ऋषिदत्ता मिल जायेगी! ऐसी भ्रमणा में मत रहना। यह संसार अनन्त है। इसमें कोई जीव कहां चला जाता है और कोई कहां चला जाता है, उसमें भी आत्म हत्या करने वालों की तो ज्यादा-तर दुर्गति ही होती है। इसलिए ऐसा अयोग्य विचार दिमाग में से निकाल दो।'

'और फिर, तुम जब आश्रम में मुझसे मिले तब मुझे क्या कह-कर साथ लाये हो? तुम्हारी ऐसी बात से मेरा दिल कितना दुःखी हो रहा है यह तो तुमने सोचा ही नहीं।'

'मुनिकुमार, मुझे क्षमा करो, मैं तुम्हें जरा भी दुःखी करना नहीं चाहता, पर.........'

'पर क्या? तुम्हें आत्महत्या नहीं करनी है। यदि तुम जिन्दा रहोगे तो शायद कभी ऋषिदत्ता मिल भी जाय।'

'कैसी बेतुकी बात कर रहे हो मुनिकुमार! अब इस जन्म में ऋषिदत्ता मुझे कैसे मिल सकती है? वो जिन्दा हो तो मुझे मिले न? पर क्या मौत की गहरी नींद में सोयी हुई ऋषि वापस जग सकती है? जीवित हो सकती है?'

'हां, कुमार, बशर्ते तुम्हारे में अपूर्व सत्व और श्रद्धा होनी चाहिये! ऋषि को लौटना ही होगा वापस।'

'ऋषिकुमार ...फिर से कहो....क्या सचमुच ऋषि लौटेगी? क्या तुमने उसे कहीं देखा है? क्या वो जिन्दा है? ऐसे समाचार तुम्हें मिले हैं? कहो ऋषिकुमार··· मुझे तुम्हारे पर पूरा एतबार है। तुम्हारी हर बात को मैं सच मान रहा हूँ!'

मैं तपाक-से पलंग पर से खड़ा हो गया। ऋषिकुमार के कंधों पर हाथ रखते हुए मैंने उनसे माफ़ी माँगी। ऋषिकुमार के होठों पर जमी हुई महीन हँसी पिघलने लगी। उन्होंने मुझ से कहा :

'कुमार मुझसे पहले वादा करो कि तुम अब मरने की बात नहीं करोगे। आग में कूदने का इरादा नहीं करोगे। फिर दूसरी बात करूंगा।'

मैंने ऋषिकुमार को वचन दिया। ऋषिकुमार ने कहा : 'कुमार, मैंने अपने ज्ञान से जाना है कि ऋषिदत्ता कहाँ है!'

'क्या? तुम जानते हो? तुमने मुझे आज तक बताया क्यों नहीं? अच्छा, पर वो क्या जिन्दा है?' मैंने ढेर सारे प्रश्नों की माला गूँथकर उन्हें पहना दी।

'हाँ, कुमार! वो जिन्दा है!'

'सच?'

'हाँ!'

'मुझे टरकाओ मत, जल्दी कहो कि वो है कहाँ?'

'राजकुमार, चतुर व्यक्तियों के चमत्कार पारिजात होते हैं। यह तो

तुम जानते ही हो न ? उनमें जो दक्षिण दिशा के अधिपति हैं, उनके अगार में ऋषिदत्ता जिन्दा है।'

'पर, उसे मैं यहाँ कैसे ला सकता हूँ ?'

'कुमार, यह तो जरा मुश्किल काम होगा, क्यूँकि इसके लिए मुझे स्वयं वहाँ सदा-सदा के लिए रहना होगा। पर मैंने तय किया है कि मैं अपने आपको वहाँ समर्पित कर दूँगा....और ऋषिदत्ता वहाँ से मुक्त होकर तुम्हें मिल जायेगी !'

'ऋषिकुमार, मैं तुम्हें क्या दूँ ? मेरी आत्मा तुम्हें दे देता हूँ, मैं तुम्हारा उपकार कभी नहीं भूल सकता !'

'तुम्हारी आत्मा तुम्हें ही मुबारक ! पर मेरी एक बात तुम्हें माननी होगी। बोलो मानोगे ?'

'एक नहीं....तुम्हारी सारी बातें मानूँगा, पर अब तुम देर मत करो !'

'तो, जब मैं तुम्हारे पास वचन माँगू तब तुम्हें देना होगा !'

'अवश्य, मैं वादा करता हूँ....'

'अच्छा, तो फिर, थोड़ी ही देर में तुम्हें तुम्हारी ऋषिदत्ता मिल जायेगी। तुम्हारा कुशल हो ! तुम सुखी हो !'

यों कहकर ऋषिकुमार वहाँ से चल दिये। मैंने दो हाथ जोड़े.... सर झुकाया। उनके भव्य समर्पण को मेरा दिल प्रणाम कर रहा था। उनकी निःस्वार्थ मैत्री पर मेरा मन आफरीन था।

मैं मेरे शयनगृह में ऋषिदत्ता की राहों में पलक-पावड़े बिछाये बैठा था। कितनी अजीबोगरीब संवेदनाओं ने मुझे गलबाँही में कस रखा था। मृत ऋषि...मेरी निगाहों से दूर-दूर चली गयी ऋषि.... जिसके जाने से एक ईंट के खिसकने से ढह जाती इमारत सी मेरी जिन्दगी हो चुकी थी। वैसी ऋषि आज मुझे वापस मिलने वाली थी। जिसका मिलन मेरे लिए एक सपना था, एक कल्पना थी,....एक असंभव मात्र थी! उसका मिलन होने जा रहा था। कुछ ही पल....कुछ ही क्षणों के दर्पण में एक सुमधुर घटना का प्रतिबिम्ब उजागर होने वाला था। अनहोनी की आकांक्षा में मेरी साँसें उफान की भांति तेज हो रही थी।

मन की पीड़ा की पत्तियां पतझड़ में गिरते पीले पर्णों से गिर रही थी। और आनन्द मधुरता....की नई कोंपलें फूटने लगी थी। परिताप का स्थान परितोष ले रहा था। मेरा-रोंआ रोंआ रजनीगंधा के फूलों सा महक उठा था। दिल की दहलीज पर खुशियों का शामियाना उतर आया था। कितनी कुहक उठ रही थी भीतर की फुलवारियों में!

महल की झरोखों पर शुक-सारिका चले आये थे, जैसे वे भी बरसों बाद एक दूसरे को देख रहे हों! दूर गगन की छाँव में हल्की-हल्की बदलियों की बारात निकली आ रही थी। इतने में एक मोर अपने पंख फैलाये आ बैठा महल की मुंडेर पर बादल की सी मोरनी की टोह में शोर मचा रहा हो! दीवार पर के सभी चित्रफलकों में जैसे जान आ गयी थी। मैं पलंग पर से उठा हुआ अचेत ऋषि के स्वागतार्थ ही शयनगृह के दरवाजे तक चौंका-चौंका चला गया। प्रतीक्षा के अन्तिम क्षण प्रज्वलित हो उठे। और यह कौन?

ऋषिदत्ता ? मेरी आँखें फटी-फटी सी रह गयीं। मेरे कदम लड़खड़ा गये ...मेरे दोनों बाहु फैल उठे। और ऋषि ने झुककर मुझे प्रणाम किया। मैं तो उसे टकटकी बाँधे निहारता ही रहा! हाँ, वो ऋषिदत्ता ही थी। मैंने अपनी आँखों को मसला...पलकों के गीले किनारे पोंछे वो ऋषि ही थी....मेरी भ्रमणा नहीं पर एक सत्य था यह! मैं कुछ बोलूं भी इसके पहले तो उसने मेरी कुशलता पूछ ली!

'आप कुशल हैं न ?'

'देवी, तुम्हें पुनः पाकर कुशल तो क्या जिन्दगी धन्य हो गयी! नया जीवन मिला है ऋषि, तुम्हें पाकर!'

मैं ऋषि के साथ महल की अट्टालिका में पहुँचा। नील गगन की छाँव में हम दोनों खामोशी का आवरण लपेटे खड़े रहे। इतने में गगन में से फूल बरसने लगे। खुशबू का खजाना जैसे कोई लुटा रहा हो और एक आवाज, एक दिव्य ध्वनि दिशाओं में गूँज उठी : 'महासती ऋषिदत्ता जयतु!'

मैं और मेरा मन तृप्ति से लबरेज हुआ जा रहा था! इस दैवी घटना को देखकर महाराजा सुरसुन्दर राजमहल में दौड़ आये। मैंने उनसे कहा : 'ऋषिकुमार की अपूर्व कृपा से मुझे मेरी ऋषिदत्ता वापस मिल गयी है!'

महाराजा अत्यन्त प्रसन्न हो उठे। उन्होंने नगरजनों से इस बात की चर्चा की। नगरजन तो ऋषिदत्ता को देखने के लिए बावले से हो चुके थे। हम दोनों महल के झरोखे में खड़े रहे। सभी नागरिक ऋषि को देखकर आनन्द में डूबे जा रहे थे। महल के परिचारक भी कानाफूसी कर रहे थे।

'भई, ऐसी संगमरमर की तराशी हुई तस्वीर सी ऋषिदत्ता के लिए एक जान तो क्या हजार जान देना भी कम नहीं। कितना सौम्य और सुहावना सौन्दर्य है! और अपनी रुक्मिणी ...हूँ ...सोने के आगे निरा पित्तल! सोनकली के आगे नीम की बत्ती!'

महाराजा सुरसुन्दर ने मुझसे कहा: 'कुमार, ऋषिदत्ता के साथ मेरे पट्टहस्ति पर आरूढ़ होकर मेरे राजमहल पर चलिए।' अनेक बाजों की धूम के साथ हजारों नागरिकों ने हमारा अभिवादन किया। नगर में हमारी शोभायात्रा निकली।

मेरा मन, मेरी आँखें ऋषि में डूबे जा रहे थे। मेरे मन में प्रश्नों का पहाड़ खड़ा था। सवालों का दरिया उफन रहा था। मेरे होंठ ऋषि से बतियाने के लिए बेकरार थे ...पर मेरे साथ महाराजा सुरसुन्दर बैठे थे। एक मर्यादा की शीशे की दीवार हमारे बीच थी। मैं खामोश था....ऋषि खामोश थी। फिर भी उस मौन में मधुरता थी। हमारे दिल तो कभी के बातों में खो चले थे....। लोग हमें देख देखकर खुशियाँ जता रहे थे। मैं ऋषि को देखकर खुशी में खोया जा रहा था...। बब ऋषि! न जाने कितने मन का भार उसकी पलकों पर आ घिरा था....। शायद वो आलसी भी हो गई हो....एक बार पलकों को गिराया तो फिर उठाने का नाम नहीं।

१९.

ऋषिदत्ता की यकायक प्राप्ति होने के निरवधि आनन्द में मेरा पहाड़ सा विषाद पिघल गया। मेरे जीवन का आकाश फिर से निरभ्र-स्वच्छ बन गया था। प्रियजन का मिलन मानव हृदय को खुशी से कैसा झंकृत कर देता है इसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा था।

मेरे दिलो-दिमाग में सवालों का दरिया उछल रहा था : ऋषि इतने दिन कहाँ रही ? वो जिन्दा कैसे बची ? वो यहाँ पर कैसे आ गयी ? ऋषिकुमार के साथ कहाँ मिलना हुआ ? वगैरह ...पर पूछूँ भी तो कैसे ? मैं एकान्त का मौका खोज रहा था। पर हम मैं और ऋषिदत्ता महाराजा सुरसुन्दर के मेहमान बने थे। महाराजा सुरसुन्दर प्रफुल्लित नजर आ रहे थे। उसका कारण मुझे ऋषिदत्ता मिल गयी, वह नहीं होगा, पर मैंने आत्महत्या का विचार छोड़ दिया, वह होना चाहिए। मेरा अग्निस्नान उनके लिए भी अग्निस्नान का निमित्त हो जाता। मेरी स्वस्थता से, प्रसन्नता से उनका विक्षुब्ध और बौखलाया हुआ मन शान्त बना था।

अलबत्ता, उनके दिमाग में भी प्रश्न तो घूमता ही होगा कि मैंने

अचानक अग्निस्नान करने का निर्णय क्यों किया ? उन्होंने रुक्मिणी से भी पूछा होगा ! रुक्मिणी ने उनके मन का समाधान हो पाये वैसी स्पष्ट बात की ही नहीं होगी । हमें आग्रह से मनपसन्द भोजन करवा कर, मूल्यवान अलंकार और वस्त्रों से हमारा बहुमान करके, ऋषिदत्ता को महारानी के पास बिठाकर महाराजा मुझे अपने एकान्त मंत्रणा-खण्ड में ले गये ।

उन्होंने प्यारभरे शब्दों में मुझसे कहा : 'कुमार, चलें अपन शांति से कुछ बातें करें, फिर आराम करें....ऋषिदत्ता रानी के साथ बातें करेगी....रानी को भी आनन्द होगा ।' मैंने ऋषिदत्ता के सामने देखा, उसने सहमति सूचक सर हिलाया । मैं महाराजा के साथ खड़ा हुआ । महाराजा मुझे उनके मंत्रणाखंड में ले गये ।

हम बैठे । मैं मंत्रणागृह की दिवालों पर लगे हुए सुन्दर युद्ध-चित्रों को देखने लगा । महाराजा मौन थे । उनके मुंह पर खामोशी का सेहरा बंधा था । कुछ महीन सी उदासी और अनमनापन भी नजर आ रहा था । उन्होंने धीरे से कहा :

'कुमार, बहुत अच्छा किया तुमने....तुम्हारा निर्णय बदलकर ! वर्ना मेरा भी जीना दुश्वार हो जाता !' मैं मौन था । मेरी आँखें जमीन पर स्थिर थी ।

'कुमार, क्या तुम मुझे कहोगे कि तुम्हें ऐसा अति गम्भीर निर्णय क्यों करना पड़ा ? आज सुबह से तो रुक्मिणी भी अन्न-जल का त्याग करके [illegible] रोने जा रही है । मैंने उसे अब यह शुभ समाचार दिये [illegible] कहीं उसके [illegible] किया है ।'

मैंने आँखों को ऊपर उठाये बगैर ही जवाब दिया :

'महाराजा, मेरे अग्निस्नान करने के निर्णय का कारण आप न पूछें, यही अच्छा होगा। वो जानने से आपको सुख नहीं होगा, भारी दुःख होगा।'

'अब ऐसा दुःख नहीं होगा कुमार, चूँकि अब तो तुम प्रसन्न हो, स्वस्थ हो। हालाँकि मुझे तुमसे नहीं पूछनाचाहिए फिर भी शायद यह जानकारी मुझे और किसी ढंग से उपयोगी भी बन जाये।'

मुझे भी लगा कि महाराजा को वास्तविक परिस्थिति बता देनी चाहिए। साथ ही साथ, वे रुक्मिणी को कोई सजा न करें, इसका वचन भी उनसे ले लेना चाहिए। मैंने महाराजा से कहा :

'महाराजा आपको जब कारण जानना ही है तो मैं वह कारण बता देता हूँ, पर आप मुझे वचन दें कि सारी बात जानने के बाद आप आपकी पुत्री को कोई कठोर दण्ड नहीं करोगे।'

'कुमार, इसके बारे में तुम निःशंक रहो। रुक्मिणी की शादी मैंने तुम्हारे साथ कर दी है अतः उस पर तुम्हारा पूरा अधिकार है। तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध मैं रुक्मिणी को किसी भी तरह की सजा नहीं करूँगा।' महाराजा ने प्रेमभरे शब्दों में वचन दिया।

'आप जानते ही हैं कि पहली बार जब मैं शादी करने के लिए कावेरी आ रहा था तब मैं रास्ते ही में से वापस लौट गया था। क्योंकि रास्ते में आने वाले एक आश्रम में ऋषिकन्या ऋषिदत्ता के साथ मैंने शादी कर ली थी। इसके बाद आपकी पुत्री के साथ शादी रचाने का मेरे मन में कोई उत्साह नहीं था। ऋषिदत्ता के सहवास

में मेरी जिन्दगी का सफर आराम से तय हो रहा था....कि अचानक मेरे नगर में एक दुःखद और आश्चर्यजनक घटना होने लगी। रोजाना रात को एक नगरवासी नागरिक की हत्या होने लगी और ऋषिदत्ता के चेहरे पर खून के दाग लगने लगे! उसके तकिये के नीचे से मांस के टुकड़े निकलने लगे! मुझे तो ऋषिदत्ता पर पूरा भरोसा था। उसकी निर्दोषिता....सरलता....दयालुता ...यह सब मैंने आश्रम में अपनी आँखों से देखा भाला था। वो हत्या....मानवहत्या नहीं कर सकती। मैं रोजना तड़के ही उठकर उसका मुंह धो देता और मांस के टुकड़े गटर में फेंक देता।

पर रोजाना नगर में मानवहत्या चालू थी इससे मेरे पिताजी हत्यारे को पकड़ने के लिए एड़ी से चोटी तक की हरसंभव कोशिश करने लगे। सैनिक और गुप्तचरों ने भी काफी खोजबीन की हत्यारे को फांसने के लिए; फिर भी वे नाकामयाब रहे। तब पिताजी ने मंत्र-तंत्र के जानकार बाबा जोगी सन्यासियों को राजसभा में बुलवाये। हत्यारे को पकड़ने के लिए उन्हें उनकी मंत्रशक्ति का प्रयोग करने के लिए कहा गया। पर किसी ने हिम्मत नहीं की। अतः पिताजी ने गुस्से में आकर उन सबको राज्य छोड़कर चले जाने की आज्ञा की...। इतने में राज्य सभा में एक सन्यासिनी ने प्रवेश किया और उसने ऋषिदत्ता पर हत्या का इल्जाम लगाया। उसने सबूत पेश किया। ऋषिदत्ता का चेहरा रोजाना खून से सनता है, रोजाना उसके तकिये के नीचे से मांस के टुकड़े मिलते हैं। राजकुमार यह जानता है .. फिर भी पत्नी के मोह से यह बात छिपा रहा है वगैरह....।'

पिताजी ने उस रात को इरादतन मुझे अपने पास बुलाया और वहाँ मेरे शयनखण्ड के आस-पास गुप्तचरों को तैनात कर दिये। सुबह

तड़के ही गुप्तचरों ने ऋषिदत्ता का खून से सना हुआ चेहरा देख लिया....और उन्होंने यह बात मेरे पिताजी ने कही। बस...पिताजी ने बिना कुछ सोचे-विचारे ऋषिदत्ता को "राक्षसी" कहकर उसकी जान लेने के लिए जल्लादों के हाथ सौंप दी....जल्लाद उसे....'

मैं आगे बोल न सका। मेरी आँखें गीली होकर चू रही थी। मेरा गला अवरुद्ध हुआ जा रहा था। दिल में सुलसा जोगन पर गुस्सा उफन रहा था। महाराजा सुरसुन्दर भी उत्तेजित हुए जा रहे थे। उन्होंने मुझसे पूछा : 'कुमार, जो कुछ हुआ था उसमें ऋषिदत्ता पर ही इल्जाम लगे वैसा ही था.... ऋषिदत्ता की निर्दोषता का सबूत तो मात्र तुम्हारा दिल था....। इसके अलावा कोई सबूत नजर नहीं आता....।'

'वह सबूत गत रात्रि को मिल गया, महाराजा!'

'कैसे? कहाँ से मिला?

'आपकी पुत्री ने पेश किया!'

'रुक्मिणी ने? क्या कह रहे हो?'

'जी हाँ, इस पूरे साजिश की सूत्रधार वो स्वयं थी आपकी पुत्री! उसने अपने मुँह अपनी साजिश का बयान किया!'

'दुष्टा....अधम...नालायक....' महाराजा सुरसुन्दर गुस्से से बौखला उठे। सिंहासन पर से खड़े हो गये....। मैंने उनका हाथ पकड़कर बिठाया और कहा :

'महाराजा, अभी बात अधूरी है....रुक्मिणी ने यह षड्यंत्र क्यों रचा....और किस तरह किया वो तो बताना बाकी ही है!'

मैंने ऋषिदत्ता के साथ शादी की यह रुक्मिणी को बिल्कुल पसन्द नहीं आया। वो मेरे साथ शादी करना चाहती थी। उसने सोचा कि जब तक मेरे पास ऋषिदत्ता है तब तक मैं उसके साथ शादी नहीं करूंगा। इसलिए ऋषिदत्ता को दूर करने के लिए उसने योजना सोची। उस योजना को पूरी करने के लिए उसे सुलसा नामक जोगन मिल गयी। सुलसा के पास योगशक्ति है, मंत्रशक्ति है। रुक्मिणी ने उसको विश्वास में लिया। सुलसा स्वयं रथमर्दन नगर में आयी और उसने रोजाना नगर में मानव-हत्या करना चालू किया। योगशक्ति से वो ऋषिदत्ता के चेहरे पर खून के दाग लगाने लगी, उसके तकिये के नीचे मांस के टुकड़े छुपाने लगी। ऋषिदत्ता पर कलंक रक्खा गया....। उसे मौत के घाट उतार दिया....। कहिए महाराज ऋषिदत्ता के बेगुनाह होने का इससे बढ़ कर और कौनसा सबूत चाहिये ?'

महाराजा का शरीर गुस्से में कांप रहा था। उनकी आंखें फटी-फटी सी रह गयी थी....। उनके चेहरे पर गहन विषाद के बादल उभर आये थे।

'ऐसा अधम कुकर्म ? रुक्मिणी ने करवाया ? सुलसा जोगन ने किया ? योगशक्ति का इतना भयंकर दुरुपयोग....?

महाराजा खड़े हो गये। दीवार पर लटकती कटारी को एक झटके से खींचकर बाहर जाने के लिए आगे बढ़े....मैं एकदम खड़ा हो गया। त्वरित गति से महाराजा के पास जाकर उन्हें अपनी बाहुओं में जकड़ लिया।

'कुमार, मुझे छोड दो, मुझे ऐसी लड़की नहीं चाहिए। मेरे नगर में ऐसी जोगन भी नहीं चाहिए....। मैं उन दोनों को मौत के घाट उतारूंगा।'

'नहीं महाराजा, ऐसा नहीं कर सकते आप ! आपने मुझे वचन दे रखा है....। आप रुक्मिणी को सजा नहीं करेंगे। उसका गुनाह माफ कर दीजिये....चूंकि उसके आखिरी प्रयत्न होने पर भी ऋषिदत्ता मुझे वापस जिन्दा मिल चुकी है !' मैंने राजा के हाथ में से कटारी लें ली और उन्हें पलंग पर सुलाकर आराम करने के लिए कहा। परन्तु वे आराम करें कैसे ? उन्होंने तुरन्त परिचारिका को बुलवाकर रुक्मिणी को उपस्थित करने के लिए आदेश दिया। मैंने महाराजा से कहा :

'यदि आप की इजाजत हो तो मैं ऋषिदत्ता को लेकर श्वेत-महल में जाऊं।'

'नहीं कुमार, अभी तुम यहीं बैठो, मैं उस दुष्टा जोगन को यहीं पर बुलवाता हूँ....।' मैं मंत्रणागृह की अट्टालिका में घूमने लगा। सूरज सांझ की क्षितिज पर झुक रहा था। पीक्षओं की आवन-जावन से आकाश मुखरित था। पेड़ों पर पंखियों की चहल-पहल बढ़ती जा रही थी....। आकाश में नीली बदलियां तैर रही थी।

धीरे-धीरे कदम रखती हुई रुक्मिणी ने मंत्रणागृह में प्रवेश किया। मेरी और उसकी नजरें मिली। तुरन्त उसने अपनी नजर समेट ली और उसने अपने पिता के चरणों में नमस्कार किया। महाराजा ने उससे पूछा :

'तू सुलसा को पहचानती है ?' उसने सर झुकाकर हां कहा।

'वो कहां रहती है, अभी वो कहां मिलेगी ? यह सब बातें तुझे बतानी है।'

रुक्मिणी ने कांपते हुए सारी जानकारी दी। महाराजा ने परिचारिका से कहा : 'जा सेनापतिजी को यहां पर बुला ला !'

परिचारिका ने महाराजा को नमन किया और सेनापति को बुलाने के लिए चल दी। मैं बाहर की अटारी में ही खड़ा था। रुक्मिणी अभी भी खड़ी ही थी। महाराजा सुरसुन्दर की कठोर और तीखी आवाज आ रही थी।

'रुक्मिणी, तूने तेरी जिन्दगी बर्बाद की। मेरी कीर्ति को कलंकित किया, तेरी मां की कोख को लजाया। तूने कितना निकृष्ट कार्य कर डाला ? एक निर्दोष बेगुनाह युवराज्ञी पर कैसा घिनौना इल्जाम रखवाया ? उसे मौत की गोद में अकेला....। तूने इतना भी नहीं सोचा कि वो भी तेरे जैसी ही राजकन्या थी। उसे भी सुख-शान्ति की चाहना थी....। उसने कोई जबर्दस्ती से तो राजकुमार के साथ शादी नहीं की थी। राजकुमार स्वयं उसके प्रति अनुरक्त था....फिर उन दोनों की जिन्दगी भी कितनी सुहावनी थी ? पर तूने अपने सुख की खातिर उसका सफाया करने का प्रयत्न किया....। क्या मिला तुझे....? तूने फरेबी का फंदा रचकर राजकुमार कनकरथ के साथ शादी कर ली पर अब वह तेरा काला मुंह देखना भी पसन्द करेगा क्या ? कुमार तो खुशनसीब है, उसे तो उसकी ऋषिदत्ता वापस मिल गयी....। अब तुझे तो तेरी जिन्दगी, आंसू....उदासी और घुटन की गलियों में तड़प-तड़फ कर ही बितानी होगी।

हालांकि तेरा गुनाह तो ऐसा है कि तुझे मौत की सजा ही होनी चाहिए....पर कनकरथकुमार ने मुझ से वचन ले लिया है....तुझे सजा नहीं करने का। मैंने उसे वचन दे दिया है, वर्ना, आज

मेरे हाथों पुत्री हत्या का पाप हो जाता, मेरी कटारी तेरे खून से रंग जाती।

महाराजा सुरसुन्दर झल्लाते हुए बोले जा रहे थे। रुक्मिणी खड़ी खड़ी काँप रही थी। उसकी आँखें बरबस बही जा रही थी। उसके रोने की सिसकियाँ मुझे सुनायी दे रही थी।

परिचारिका ने मंत्रणागृह में प्रवेश करके महाराजा को नमन किया और निवेदन किया : 'सेनापतिजी आ गये हैं, यदि आप आज्ञा दें तो वे अन्दर आयें।'

'वे आ सकते हैं।' महाराजा कुछ स्वस्थ बनते हुए बोले। रुक्मिणी एक ओर सिसकती हुई खड़ी रही...। मैं मेरी जगह पर खड़ा था। मेरी आँखें नील गगन की ओर पथराई थी, फिर भी यदा-कदा मैं भीतर के कक्ष में झांक लेता था।

सेनापति ने आकर महाराजा को नमन किया और महाराजा के सामने पड़े भद्रासन पर बैठ गये।

'सेनापतिजी, अपने नगर में 'सलसा' नाम की एक डायन सी जोगन रहती है....। उसे पकड़ना होगा....। उसके नाक, कान काटकर गधे पर बिठाकर सारे नगर में उसे घुमाना और अन्त में उसे अपने राज्य की सीमा से बाहर निकाल देना!'

मैं महाराजा की आज्ञा सुन रहा था। रुक्मिणी की तरफ मैंने नजर की तो उसके श्वास अटक से गये थे। भय की आशंका से वो बेचैन थी।

सेनापति ने कहा : 'महाराजा आपके आदेश का यथावत् पालन होगा। आपके आदेशानुसार उस जोगन को राज्य के बाहर धकेलकर मैं आपको निवेदन करूंगा।' महाराजा को नमन करके सेनापति ने विदा ली।

महाराजा ने रुक्मिणी की ओर आग बरसाती आँखों से देखते हुए कहा : 'जा, अब तुझे तेरी किस्मत के सहारे ही जीना है....। तूने जिसके लिए गड्ढा बनाया, तू स्वयं उसमें जा गिरी है....। कुमार कनकरथ का कोई दोष नहीं है। अब तू अपने आवास में जा सकती है।'

रुक्मिणी अपनी आँखों को पोंछती हुई वहां से चल दी। पल-भर के लिए मेरे दिल में उसके प्रति करुणा हो आयी ...। पर वो मात्र बिजली का चमकना था....। उसके दारुण कृत्य की याद आते ही, उसके लिए नफरत के बादल घिर आये।

मैं महाराजा के पास गया। उन्होंने अत्यन्त आदर से मुझे अपने पास बिठाते हुए कहा : 'कुमार, ऋषिदत्ता हरिषेण राजर्षि की कन्या है, महाराजा हरिषेण से मेरा प्रगाढ़ संबंध था इसीलिए ऋषि-दत्ता भी मेरे लिये अपनी पुत्री के तुल्य है। मैं ऋषिदत्ता से कहूंगा ही पर तुम से भी कहता हूँ कि यह घर ऋषिदत्ता का पितृघर ही है।

मेरी तुमसे आग्रहभरी विनंती है कि तुम कुछ दिन और यहां रुक जाओ ..। अब तुम बिल्कुल निश्चित रहना, रुक्मिणी तुम्हारे रास्ते में नहीं आयेगी....। तुम ऋषिदत्ता के साथ कावेरी राज्य के प्रदेशों में घूमो फिरो। यह राज्य तुम्हारा ही है, ऐसा मानकर यहां रहो। सच-मुच, मेरा दिल तो इस संसार से विरक्त बनता जा रहा है।'

महाराजा सुरसुन्दर की आँखें गीली हो गयी थीं....। उनका एक हाथ मेरी पीठ को सहला रहा था, दूसरे हाथ से वे अपने उत्तरीय वस्त्र के छोर से आँखें पोंछ रहे थे। मैंने उनसे कहा :

'आप मेरे लिए पिता-तुल्य हैं। आपकी आज्ञा मैं शिरोधार्य करता हूँ। मैं यहां कुछ दिन जरूर रुकूंगा पर मेरी आपसे एक विनती है। आप अब स्वस्थ रहियेगा और रुक्मिणी के अपराध को भूल जाइयेगा। गल्ती हर एक से होती है और फिर बीती बातों को याद रखने से फायदा भी क्या? नाहक दिल पर भार बना रहता है। आप अब किसी भी तरह का विषाद न रखें।'

२०.

ऋषिदत्ता के साथ मैं श्वेतमहल में वापस लौटा। रात का आंचल धरती पर फैलने लगा था। महल के बाहर और भीतर दीपक जल रहे थे। सारे नगर में उत्सव का वातावरण छाया हुआ था। मेरा मन भी पुलकित था। साथ ही अनेक सवालों का सिलसिला मेरे भीतर उफन रहा था...मैं भी बेकरार था सवालों का जवाब तलब करने के लिए।

शयनगृह में प्रवेश करने के बाद, कुछ स्वस्थ होकर मैंने ऋषिदत्ता से पूछा : 'देवी, आज सुबह जब से तुम्हें देखा है, तब से मेरे भीतर एक प्रश्न पहाड़ सा बड़ा होता जा रहा है, और वह यह कि तुम जिन्दा कैसे रही ? जीने का अवकाश नहीं था उन क्षणों में तुम्हारे पास ! और फिर तुम इतने लम्बे अरसे तक रही कहाँ पर ?'

ऋषिदत्ता नीचे जमीन पर बैठी हुई थी। मैं पलंग पर करवट के बल लेटा था। उसने आँखें उठाकर मेरे सामने देखा। उसकी आँखों में डरी हिरनी की मासूमियत तैर रही थी। उसके चेहरे पर छिटकती

चाँदनी सा वही मुग्धगान था जो कि मैंने पहले उसके चेहरे पर देखा था। वो बोली क्या, चाँदी के घुंघरू छनक उठे!

'प्रिय, यह कहानी वैसे तो लम्बी नहीं है....पर यदि मैं अपनी हालात के साथ बयान करूंगी तो शायद रात पूरी बीत जायेगी.... आपकी नींद में दखल होगा!'

'नहीं नहीं, मुझे नींद आ नहीं रही है...मैं तो बेताब हूँ यह सब जानने और सुनने के लिये!'

अविदत्ता स्वस्थ हुई। उसने अपनी पलकें मूंद लीं और पलभर के लिये विचारों की गलियों में गुम हो गयी....और उसके होंठों पर शब्दों का कारवां उतरने लगा।

'स्वामिन्, जब आपके पिताजी गुस्से में बौखलाते हुए अपने शयनखंड में चले आये और मेरे बालों को खींचते हुए मुझे घसीटने लगे.... तब मैं तो भय के मारे कांप उठी....मेरी आंखें बरबस बहने लगीं। अकल्पनीय वेदना से मेरा अस्तित्व हिलकोरे लेने लगा। मैंने अपनी असहाय दशा....निराधार स्थिति देखी। इससे पहले आप मेरे पास आ ही गये थे और आपने कुछ देर में टूट गिरने वाली विपत्तियों के बादलों की ओर इशारा भी कर दिया था...पर आपने जो उस समय कहा था उससे मेरा दिल छलनी हुआ जा रहा था। आपको शायद वह याद नहीं होगा, चूंकि आप उस समय गुस्से में थे। आपने मुझे गत शाम को ही सावधान कर दिया था 'आज रात को मुझे पिताजी के पास सोना होगा, सुबह में जल्दी उठ कर तू तेरा मुंह धो लेना और मांस के टुकड़े नाली में फेंक देना।' पर मैं जल्दी उठ न पायी और गुप्तचरों ने मेरा खून से सना हुआ मुंह देख लिया था, इसलिये आप मुझ पर

का खून पीया हैं, उनका मांस खाया है....उसका हिसाब अब तुझे चुकाना होगा। तेरे इष्टदेव को तू याद करले। यहाँ कोई तुझे बचाने या तुझ पर रहम करने वाला नहीं है।'

यों कहकर उस जल्लाद ने अपनी तलवार हवा में घुमायी, मेरी आँखें फट गयी। मैं होश गंवाने लगी और एकदम बेहोश बनकर जमीन पर गिर पड़ी। बस, बाद में मुझे अहसास नहीं रहा कि वे जल्लाद क्यों वहां से लौट गये। जब मुझे होश आया....तब वहाँ कोई नहीं था। अनन्त सूनापन और सर्द खामोशी की सनसनाहट की गिरफ्त में पूरा वातावरण जकड़ा हुआ था। अन्धेरा धीरे धीरे स्याह हुआ जा रहा था। आकाश में चाद भी बदलियों से जैसे मुझे देखने के लिये तांक-झांक कर रहा था। जंगली जानवरों की दहाड़ से कभी वातावरण भर जाता था। हवा भी रुक रुक कर तरक रही थी। शायद उस ठंडी हवा ने छूकर ही मेरी बेहोशी दूर की। पलभर तो मैं उन जल्लादों की कल्पना से कांप उठी। भय की थरथराहट से मेरा शरीर फड़क रहा था, पर धीमें कदम उठाकर मैंने आस पास देखा तो वहाँ कोई भी आदमी नजर नहीं आया। मैंने एक ही पल में शीघ्र निर्णय किया। सर पर बांधे नालियेर को वहीं फेंक कर मैं दौड़ती हुई श्मशान से बाहर चली आई और जंगल के रास्ते दौड़ने लगी। मेरी जितनी ताकत थी उस सब ताकत को इकट्ठा करके मैं बेतहाशा दौड़े जा रही थी।

मुझे लगा कि मैं रथमर्दन नगर से काफी दूर निकल आयी हूं। मैं एक पत्थर पर बैठ गयी। काफी थक गयी थी। पैरों से खून रिस रहा था। कपड़े भी कंटीली झाड़ियों में उलझ उलझ कर फट गये थे। भय, संताप, वेदना से मैं घिर गयी थी।

मुझे अचानक वहां पर स्वर्गस्थ पिता की स्मृति हो आयी। और

मैं फफक फफक कर रो पड़ी । मेरा यह रोना मेरे पिताजी ने सुना होगा या नहीं, यह मैं नहीं मानती थी, पर मुझे लग रहा था कि वे मेरा कल्पांत सुन रहे होंगे ।

'ओ बापू, तुम कहीं भी हो पर इस वक्त मेरी तरफ देखो। तुम्हारी इस पुत्री की ओर देखो....मेरे सर पर दुःख के पहाड़ टूट गिरे हैं। बापू, चले आओ आप जहाँ भी हो वहाँ से, और बचा लो। मैं अब आपको छोड़कर कहीं नहीं जाऊंगी। मैं आपके पास ही रहूँगी। अपन अपने आश्रम में रहेंगे। बापू....तुम तो मुझे कितना प्यार करते थे.... तुम्हे यह ऋषि कितनी लाड़ली थी....तुम अभी कहाँ हो....मेरे तात ?

हाँ, सच तो मैं ही अभागिन हूँ....मैंने ही आपको जल मरने दिया। काश, मैं भी आपके पीछे उस धधकती आग में कूद जाती ! आप मुझे साथ क्यों न ले गये ? मैं अभी तो जीते जी जल रही हूँ दुःख की आग में ! बापू मुझसे अब नहीं सहा जाता ...। मैं क्या करूं ? कहाँ जाऊं ?

मैं परमात्मा ऋषभदेव का सुमरन करके, उनकी सौगन्ध लेकर कहती हूँ बापू कि मैंने कोई गलत काम नहीं किया। मैंने आपके संस्कारों में कोई दाग नहीं लगाया। मैं बिल्कुल बेगुनाह हूँ ..बेकसूर हूँ ....फिर भी मुझ पर कितना घिनौना इल्जाम लगाया गया ? हाँ....जरूर, मैंने गत जन्म में कोई गलती की होगी, कोई पाप किया होगा, चूंकि आपने ही मुझे सिखाया था 'बेटी, इस जीवन में जो भी दुःख आता है वह अपने ही पूर्वोपार्जित पापकर्मों का फल है।' आपकी बात सही है। और किसी का कसूर नहीं है...मेरे ही ऐसे पाप कर्म होंगे। फिर मेरे ससुर

को ऐसा ही सूझेगा न ? और मेरे पति भी क्या कर सकते हैं ? जो भी मुझे नहीं बचा सके ।'

'बापू....बापू....अपनी इस मासूम बच्ची को बचा लो....। मेरा अब कोई नहीं। मैं किसके सहारे जीऊंगी...? कौन मेरी रक्षा करेगा ?' इधर रात छाती रही और मैं अपने बापू के ध्यान में डूब गयी। अचानक मुझे लगा कि जैसे मेरे वे वत्सल पिता मुझसे कह रहे हैं : 'बेटी.... चली आ अपने आश्रम में, परमात्मा ऋषभदेव की छाया में तू निर्भय रहेगी।'

...और मेरे शरीर में सिहरन फैल गयी। मेरे रोंये रोंये में कंपन हो आया। मेरे अपने भीतर परमात्मा ऋषभदेव की प्रतिमा उभर आयी। मैंने मन ही मन परमात्मा को नमन किया। अव्यक्त आनन्द और अन्जान ऊर्मियों से मेरा मन स्वस्थ होने लगा था। थके हुए और हारे हुए मेरे भीतर किसी गूढ़ शक्ति का संचार होने लगा। मैंने आकाश की ओर नजर फेंकी। आकाश में टिमटिमाते हुए तारों के आधार पर मैंने दिशा का निर्णय किया। पिताजी का आश्रम दक्षिण दिशा में था। मैंने दक्षिण दिशा में जल्दी जल्दी अपने कदम बढ़ाये।

अब तो मेरी कल्पना में मेरा वह प्रशांत प्रिय आश्रम उभरने लगा। आश्रम से जुड़ी हुई अनेक यादों का काफिला मेरे दिमाग में उतर आया....जहाँ मेरा जनम हुआ....जहाँ की माटी में मेरा बचपन खेला था....जहाँ के पेड़ और पौधे मुझसे अपनापन रखते थे। जहाँ के फूलों के साथ मेरा सख्य था, जहाँ के जानवर भी मुझसे दोस्ती रखते थे। जिस सरोवर से मैंने अपने हाथों पानी भरा था....कमल उगाये थे। जहाँ के जिनालय में मैंने परमात्मा की त्रिकाल पूजा-अर्चना-स्तवना की थी। उस आश्रम की यादें मेरे संत्रस्त मन को काफी शांति दे रही थीं।

मेरे पिताजी राजर्षि थे....फिर भी मुझे पाल पोषकर बड़ा किया था। माँ की मृत्यु के बाद वे ही मेरी माँ बने थे,....वे ही मेरे पिता थे, वे ही मेरे गुरु थे,....शिक्षक थे,....मेरे लिये वे सब कुछ थे। उन्होंने मुझे माँ की ममता दी थी। पिता का वात्सल्य दिया था। भाई का प्यार दिया था गुरु बनकर शिक्षा दी थी। मेरा बचपन कितना सुखद....उन्मुक्त और सरसों के फूलों सा रंगीन था। दुःख को मैंने देखा भी नहीं था। वेदना का मुझे सपना भी कभी नहीं आया था। जंगल के निर्दोष मृगछौनों के साथ इठलाती-बलखाती मैं उम्र का रास्ता तय करती थी। कितनी चुलबुली थी उस समय मैं। हिरनों के गलबांही डालकर रात की रात सो जाती थी....। बचपन के दिन आँखों के आईने में एक के बाद एक उतरने-उभरने लगे। आज वापस उसी आश्रम की ओर मैं लौट रही थी।

सुबह हो चुकी थी। आश्रम की दिशा में मैं चली जा रही थी। मुख्य रास्ते पर मैं आ गई थी। इसी रास्ते पर होकर मैं आपके साथ रथमर्दनपुर आयी थी, पर उस समय मैं इस में भी ओर, आज तो [illegible] मेरे बोये हुए बीज पौधे बनकर पनप चुके थे। उन्हीं पौधों के सहारे-सहारे मैं रथ से चल रही थी। हाँ, वो ही रास्ता था, जिस रास्ते से अपने हाथों में हाथ लिये गुजरे थे। मुझे आपकी [illegible] भावना भी याद था मुझे [illegible] के रास्ते में ही देर हो गई। एक मधु की निकल आयी दिल से, आंसुओं का तूफान आँखों के [illegible] में आने लगा। और फिर कुछ साहस जुटाकर खड़ी हुई और आगे चलने लगी।

और फिर आँखों का सिलसिला चालू हुआ। आपके साथ

बिताये हुए दिन जैसे अब सपना हो चले। जैसे उन्हें पंख लगे और वे उड़ चले। कितना कुछ बन गया....नहीं सोचा था....नहीं माना था। और फिर मेरा दिल भर आया. मैं आश्रम के बाहरी इलाके में पहुँच गयी थी। भगवान ऋषभदेव के जिनालय के दर्शन हुए। मैंने 'नमो जिणाणं' कहकर सर झुकाया। उतावले कदम भरती हुई मैं दरवाजे पर आ पहुँची।

आश्रम सूनसान था। फिर भी मन्दिर की मुंडेर पर बैठे मोर ने केकारव करके मेरा स्वागत किया। कोयल की कुहुक और मोरनी का कलशोर मेरे कानों में गिरा। मेरी बायीं आँख फड़कने लगी। मैंने परमात्मा को दो हाथ जोड़कर नमस्कार किया और आश्रम की धरती पर कदम रखा।

दांयी ओर नजर की तो पिताजी के अग्निस्नान की जगह पर खड़ा स्तूप देखा। और मैं उधर दौड़ गयी। स्तूप के सामने बैठकर.... फूटफूटकर रोने लगी। हृदय का बांध छूटा जा रहा था....'माँ, बापू.... तुम्हारी लाड़ली बेटी आज वापस तुम्हारे पास आयी है....तुम्हारे चरणों में...। दर्शन दो....बापू....पानी बिना तड़पती मीन जैसी तुम्हारी बेटी तुम्हें ढूंढ रही है, इस बेकस पर दया करो। बापू....मैं लाचार हूँ....मैं असहाय हूँ। मौत के दरवाजे पर आकर वापस लौटी हूँ। मेरे बापू, जो कुछ बीता है वो मैं किससे कहूँ ? इस आश्रम में अब मेरा है भी कौन जो मेरा दुःख-दर्द सुने और मुझे ढाढ़स बंधाये ? मुझे आश्वासन दे ? आओ....बापू....लौट आओ....अब मैं आपको छोड़ कर कहीं नहीं जाऊंगी।'

धीमे-धीमे लड़खड़ाते कदमों से मैं खड़ी हुई....स्तूप को वंदना

करके, पिताजी जिस कुटिया में रहते थे उस कुटिया में गयी....वहाँ पर झाड़पोंछ की। पिताजी जिस व्याघ्र चर्म पर बैठते थे, वो अब भी वहां पड़ा था मैंने उसे बिछाया और सरोवर के किनारे गई। वहाँ मैंने स्नान किया। कपड़े धोये....माथे पर केश का जूड़ा बांध दिया।

वहाँ से चलकर मैं जंगल में गई। जंगल के फलों से मैं परिचित थी। मैंने फल लिये और आश्रम आकर कुटिर में बैठी। बैठकर फलाहार किया। पानी पिया और व्याघ्र चर्म पर सो गयी। जब मेरी आंखें खुली तब दुपहर ढल चुकी थी। मैं जंभाई लेती हुई खड़ी हुई। आश्रम के उद्यान में जाकर कुछ फूल चुन लायी। फूल लेकर भगवान ऋषभदेव के मन्दिर में गई। भगवंत के चरणों में फूल रखें मैंने भावपूर्वक स्तवना की। स्तवना करके मैंने मन्दिर को साफ किया। लौटते वक्त मन्दिर के उस सोपान पर आकर मैं ठिठक कर खड़ी रह गई जहां अपनी पहले पहल आंखें चार हुई थी। मैंने राजर्षि पिताजी के पीछे खड़े-खड़े कनखियों से आपको देखा था। वो पल....वो क्षण.... वे दिन....सब कुछ यादों की बरात ले लेकर दिल के दरवाजे पर दस्तक देने लगे। दिल और दिमाग प्यार और मनुहार, तकरार और नोंकझोंक की स्मृतियों के सैलाब में मैं डूबने लगी।

सांझ ढल चुकी थी। दिन भर घूम-घूम कर थका हुआ सूरज क्षितिज की गोद में सो गया था। मैं वापस कुटिर में पहुँच गई। अब तो मुझे यहीं पर रहना था। अतः अब क्या करना? इसके सोच विचार में खोने लगी। मेरा दिल एक विचार से धकधकाने लगा.... 'मैं इस जंगल में अकेली स्त्री....यहां पर मैं अपने शील की रक्षा कैसे कर पाऊँगी? जंगल में आते-जाते लोगों को जब मालूम होगा कि.... यहाँ पर एक रूपसी स्त्री एकाकी रहती है तो शायद कभी वे शील

मेरी आबरू पर धावा भी बोल दें। और...' इतने में पिताजी ने एक बार कही हुई बात, दिमाग में बिजली कोंध उठी। उन्होंने मुझसे कहा था 'बेटी, एक तरह की औषधि यदि कान में रखा जाय तो स्त्री पुरुष बन सकती है और जब उसे कान में से निकाल दें तो वापस अपना स्त्री का रूप पा सकती है।' यों कहकर उन्होंने वह औषधी भी मुझे बतलाई थी।

मेरा मन आश्वस्त हुआ। तीर्थंकर-प्रणीत धर्मशासन के विचार करते-करते मैं निद्राधीन हो गयी। सुबह में उठकर, स्नानादि से निवृत्त होकर, परमात्मा की पूजा की। बाद में जंगल में जाकर उस औषधी की खोज की तो कुछ मेहनत के बाद वह औषधी मेरे हाथ लग गयी। मेरा रोयां-रोयां नाच रहा था। तुरन्त ही मैंने उस औषधि को कान में रखा आश्चर्य....!

मैं स्त्री में से पुरुष बन चुकी थी। औषधी का प्रभाव तो पिताजी के पास से काफी सुना था। मैं निश्चिंत हो गयी। अब मेरा शील सुरक्षित था। मुनिकुमार-ऋषिकुमार के वेष में मेरे दिन वहां आराम से गुजरने लगे।

एक दिन रत्नमर्दनपुर नगर के युवराज वापस उसी रास्ते उसी आश्रम में पधारे। सजधज के वे शादी करने के लिये चले थे बारात सजा के। और मैंने उन्हें देखा, उन्होंने मुझे देखा...

'यानि कि वह ऋषिकुमार तू खुद?' मैं विस्मय से खड़ा हो गया।

'बिल्कुल ठीक है आपकी बात...मैं ही ऋषिकुमार...' और ऋषिदत्ता की हँसी रुपहली घंटियों सी गूँज उठी। शयनगृह के दिये बुझ चले...और हम निद्राधीन हो गये।

दिल तो औरत का ही था न ?' ऋषि ने कहा—'स्वामिन्, सच पूछो तो मेरा भी यही विश्वास था....। मुझे हर पल अंदेशा था कि कोई अजान और अदृश्य ताकत मेरी सुरक्षा का भार उठा रही है....। परमात्मा ऋषभदेव के अचिन्त्य प्रभाव तो मैंने बापू से काफी सुन रखे थे....और फिर मुझे तो बचपन से परमात्मा के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और पूरा एतबार है।'

हम दोनों हमारे श्वेतमहल के झरोखें में बैठे-बैठे गपशप कर रहे थे....। सांझ की शांत-सुरम्य बेला थी। झरोखें में से क्षितिज बिल्कुल साफ नजर आ रही थी ! मेरी आंखें संध्या के रंग बदलते रूप को निहार रही थी ! ऋषिदत्ता ने लम्बी चुप्पी को तोड़ते हुए मेरी हथेलियों को सहलाया।

'मैंने आपसे ऋषिकुमार के रूप में एक वचन लिया था,.... आप को याद है न ?'

'बिल्कुल....याद है....। मेरे उस मित्र ने वचन मांगा और मैंने दिया था....बोलो....क्या चाहिए तुम्हें ? मांगो !'

'आप देंगे ? अवश्य ?' ऋषि ने अपनी आंखे मेरी आंखों में पिरोयी।

'क्या तुम्हें शक है ?'

'नहीं तो, मुझे आपके वचन में कभी शक हो ही नहीं सकता !'

'तो फिर मांगो न ? बिल्कुल बेझिझक होकर मांगो !'

'आप जितना प्यार मेरी तरफ रखते हैं....उतना ही प्यार रुक्मिणी को दें। बस मुझे इतना ही चाहिए।'

मैं तो स्तब्ध रह गया....। यह क्या मांगा ऋषि ने ? मैं टकटकी बांधे देखता ही रहा ऋषि के चेहरे की ओर....। उसके चेहरे पर कोई उलझाव या तनाव नहीं था। मैं समझ नहीं सका ..। 'रुक्मिणी के प्रति प्रेम ? उस डा॰न के प्रति प्यार ? और वह भी ऋषि के जितना ! मैंने ऋषि से कहा :

'ऋषि, तुझे मालूम है, तू क्या मांग रही है ?'

'हाँ....मैं बिल्कुल होश में हूं....आपका प्यार मेरी उस छोटी बहन को मिलना ही चाहिए और वह भी जितना मुझे मिलता है उतना ही उसे मिलना चाहिए....!'

'छोटी बहन . और तेरी, मैं तो उस कलमुंही का मुंह देखना भी नहीं चाहता....। मेरे दिल में उसके लिए कोई जगह नहीं....। मैं उससे नफरत करता हूं....। उसे मैं कैसे प्यार कर सकता हूं ? और कैसे उसे अपने दिल में तनिक भी स्थान दे सकता हूं ?'

'अब उस नफरत को दूर करनी होगी....। आप तो प्यार के सागर हैं....। उसकी गल्तियों को भूल जाइये, उसे क्षमा कर दीजिये।'

'पर, उसने कितना भयंकर अपराध किया है यह तू जानती है न ? ऐसा घातकी और क्रूरतापूर्ण बरताव करने वाली को मैं क्षमा दूं कैसे ? ऋषि, यह मुझसे नहीं होगा।'

'करना ही होगा मेरे देव, कुछ भी अशक्य नहीं,....आप यदि उसके अपराध का वास्तविक कारण सोचोगे तो आपका गुस्सा पानी-पानी हो जायेगा। मेरे बापू तो कहते थे कि हर एक जीवात्मा अपने

पुण्यकर्म के उदय से अच्छे काम करता है और पापकर्म के उदय से बुरे काम करता है....। रुक्मिणी के पापकर्म का उदय जगा होगा तो ही उसने गलत काम किया....। उसके पापकर्मों ने ही उसे गुनाह करने के लिए प्रेरित किया है....। इसमें उस जीवात्मा का क्या दोष ?'

'पर ऋषि, तू भावुकता के बहाव में पागल हुई जा रही है। तू जरा सोच तो सही, उसके दिल में तेरे लिये कितनी ईर्ष्या है ! उसने तेरे को मेरे पास से हमेशा-हमेशा के लिये दूर करने के लिए कैसा षड़यंत्र रचा, तुझे मौत के गहरे कुएं में धकेला....यह तो तेरी और मेरी किस्मत कि तू बच गयी और मुझे मिल गयी वर्ना....?'

'होगी उसे मेरे लिये ईर्ष्या—ईर्ष्या तो स्त्री जाती का सहज स्वभाव है ! पर अब उसे मेरे प्रति ईर्ष्या नहीं होगी। वो आपका प्यार चाहती है... आपका प्यार मिलेगा तो ईर्ष्या-असूया सब कुछ भूल जायेगी।

'ऋषि, तू जितना समझती है उतनी सरल वो नहीं है, ऐसा मुझे लगता है....। उसे अपनी गलती का अहसास भी नहीं !'

'अब तो उसे अपनी गल्ती का अहसास हुआ होगा ! मैं जिन्दा हूं यह जानकर तो उसके पछतावें का पार नहीं होगा। सुलसा जोगन को जो सजा हुई, उससे भी उसे अपनी गलती मालूम हुई होगी। इन्सान जब गलत कदम उठाकर असफल बनता है तब उसे अपने गलत कदम का भान होता है। वापस वैसा गलत कदम नहीं उठाने का मन ही मन निर्णय करता है। रुक्मणी की मानसिक स्थिति यही होनी चाहिए।

'मुझे तो उसकी मानसिक स्थिति बिल्कुल अलग नजर आ रही है। सुलक्षा जीवन को जो सजा हुई है उसे जानकर शायद वो मुझ पर भी गुस्से में होगी। चूंकि मैंने ही महाराजा को उस सारे षड्यंत्र का परिचय दिया था।'

पर, यदि उसके मन में आपके प्रति गुस्सा न हो....उसे यदि अपनी गल्ती का पश्चाताप होता हो तो...और वह आपके प्रेम को चाहती हो....तो फिर उसे प्यार देंगे न ?'

'ऋषि, तू भोली है, तू गुणवती है, तो सारी दुनिया तुझे गुणों से भरी हुई लगती है। तेरा दिल नाजुक है....तू मासूम है तो सारी दुनिया का दुःख-दर्द अपने दिल में लिये फिरती है। दूसरों के दर्द की दीवारों को तोड़ने के लिए प्रयत्न करती है। पर दुनिया इतनी भली नहीं है जितना तू मान बैठी है...हर एक आत्मा करुणा की पात्र नहीं होती।'

'चाहे सब न हो करुणापात्र, पर रुक्मिणी तो है ही। मात्र करुणापात्र ही नहीं अपितु प्रेमपात्र भी है...। आप एक बार उसके अपराध की क्षमा दे दें...। एक बार उसे माफ कर दें....। बस.. फिर तो आपके भीतर भी उसके लिये हमदर्दी का झरना फूट निकलेगा।'

'पर, उसने मुझसे माफी मांगी कहां ? बल्कि वह तो मेरे सामने अपने करतूतों का कमाल बता रही थी।'

'मेरे देव ! वह बात अब पुरानी हो गई...। पुरानी बातों को उधेड़ने से क्या !, पुराने घाव को कुरेदने से क्या ? गुस्से में, बौखलाहट में, और ईर्ष्या की आग में झुलसता व्यक्ति कुछ भी बोल देता है...

बक देता है। उसे मालुम भी नहीं रहता वह क्या बके जा रहा है...। पर आप जैसे देवता पुरुष को वे शब्द याद नहीं रखने चाहिये....। उन्हें भुला देना चाहिये...। और फिर वो जो भी कुछ बोली थी ...मेरी तरफ की नफरत के कारण...मेरे प्रति डाह के कारण....। अब तो उसका दिल भी नरम हो गया होगा...। अब वो मुझसे भी ईर्ष्या-डाह नहीं करेगी ?'

'तो तू उससे मिल, उसकी मनोभावना जान ले, फिर जैसा तू चाहेगी, वैसा मैं करुंगा बस... अब तो खुश है न ?'

'बहुत खुश ! एकदम खुश ! आपकी उदारता प्रशंसनीय है। मैं कल ही रुक्मिणी से मिलने जाऊंगी। मिलकर उसके मनोभाव जानकर....उसकी संतप्त आत्मा को आश्वासन दूंगी। उसने अशांत मन को शांति-समाधि दूंगी।'

में ऋषि के सरलता से, स्नेह से और उदारता से छलछल होते व्यक्तित्व को मन ही मन अभिनन्दन देता रहा। अपनी जान लेने का घिनौना प्रयत्न करने वाली रुक्मिणी के प्रति उसका दिल कितना हमदर्दी रखता था ! कितनी समानुभूति और सहानुभूति का सौन्दर्य उसके भीतर गुम्फित था....। बदले की कोई मनोवृत्ति नहीं ! न कोई द्वेष.... न कोई गुस्सा और न ही वैर की गांठ...!

दूसरे दिन सुबह-सुबह ही अपने प्रभातिक कार्यों को निपटाकर ऋषिदत्ता रथ में बैठकर महाराजा सुरसुन्दर के राजमहल में चली गयी. दोपहर की ढलती धूप में वो वापस लौटी। उसके चेहरे पर स्मित की गुलाबी चमक थी.... उसकी आंख की पुतलियां पानी में अठखेलियां

करती मछली सी नाच रही थीं। बड़ी खुश नजर आ रही थी ऋषि-दत्ता। मैं उससे सवाल करू इससे पहले तो उसने मुझे भोजन करने के लिये बाध्य किया। मेरे भोजन करने के पश्चात् उसने खाना खाया। मुझे शयनखंड में आराम करने की सूचना देकर खुद चली गयी।

मैंने आराम किया। दो घड़ी बाद वो आयी और मेरे पलंग के पास पड़े आसन पर बैठकर उसने अपनी बात चालू की।

'मेरा काम सरल हुआ। मेरी धारणा सफल रही...'

'पर क्या हुआ? रुक्मिणी ने क्या कहा?'

'बस वही तो बता रही हूं। मैं महाराजा के महल में पहुंची। मुझे अकेली आयी देखकर महारानी बड़े असमंजस में डूब गई, पर मैंने उनके चरण छूकर कहा:

'मौसी, मुझे रुक्मिणी से मिलना है, वो कहाँ है?' मेरी बात सुनकर महारानी की आँखें विस्फरित हो गयी और कुछ पल तो वे मुझे ताकती रहीं। उनकी आँखों में आँसू धंस आये। मैंने उनका हाथ पकड़कर कहा:

'मौसी, आप निश्चिंत रहें, सब अच्छा होगा। आप मुझे रुक्मिणी के पास ले चलिये।'

महारानी ने साड़ी के छोर से पलकों को पोंछा और मुझे अपने बाहुओं में लेते हुए बोली: 'बेटी, मेरे लिये तुम भी मेरी बेटी हो।' मैं महारानी के साथ रुक्मिणी के शयनखंड में पहुंची। महारानी ने शयनखंड में जाकर पलंग पर औंधी लेटी रुक्मिणी से कहा: 'बेटी, देख तो तुमसे कौन मिलने आया है?'

रो लेकर रुक्मिणी की आँखें सूज गयी थी। उसकी आँखों में गहरा सूनापन सिसक रहा था। उसके कपड़े भी मैले और शिकनभरे नजर आ रहे थे। उसके शरीर पर कोई गहना नहीं था। उसका चेहरा मुरझा गया था। गाल पर आँसूओं की लकीरें नजर आ रही थी। मैं उसके पलंग के पास पहुँची। वो मुझे निहारती ही रही। वो मुझे पहली ही बार देख रही थी। मेरा भी पहला मौका था उसे देखने का। वो मुझे पहचान न पायी, इसलिये महारानी ने कहा :

'बेटी यह ऋषिदत्ता है!'

'हूँ? क्या आप ही ऋषिदत्ता हैं?' वो पलंग पर से सहसा खड़ी होकर नीचे उतर गई और मेरे चरणों में लेट गई। मैंने उसे उठाकर अपनी बाहु में भर लिया। उसकी आंखों का बांध अजस्र बहने लगी। महारानी मुँह फेरकर अपनी आंखों को बहने से रोकने लगी। वे शयनगृह की खिड़की के पास चली गई।

मैंने रुक्मिणी को पलंग पर बिठाया, मैं उसके पास बैठी। मैंने कहा : 'रुक्मिणी, मत रो ...रोने से क्या फायदा? देख तो जरा आइने में अपनी इन आंखों को! कितनी मुरझा गयी हैं ये मीन सी मोहक आंखें! जिन्दगी में गलती हो जाना सहज है। राह चलते ठोकर लग जाना .. ठोकर खाना यह सब स्वाभाविक है। पथरीली राह पर चलते हुए कदम-कदम पर ठोकर लगने का भय बना रहता है। फिर, दुन्यावी सुखभोग की चाहना या उसकी राह पथरीली ही नहीं अपितु जहरीली भी है। जरा सा ध्यान चूका .. जरासी असावधानी बरती कि जिन्दगी का स्वच्छ साफ-सुथरा दर्पण धूमिल हो जाता है। अनंत-अनंत जन्मों की यात्रा में अपनी आत्मा ने क्या कम ठोकरें खायी हैं?

कितने कर्मों का बोझ लादे हम घूम रहे हैं चौरासी के चक्कर में ? कर्म की परवशता जीवात्मा को बाध्य कर देती है छोटी-मोटी गलती करने के लिए। और फिर तू तो....।'

नहीं....नहीं मैं अपराधिन हूं, मैं हत्यारिन हूं, मैं पापिन हूं, मैं डायन हूं....तुम यहां पर क्यों आयी ? मुझ जैसी पापिन का मुंह देखना भी पाप है तुम महान हो ...तुम देवी हो, हो सके तो मुझे क्षमा कर दो—हालांकि मैं इस लायक नहीं हूं....पर....बोलो, क्या मुझे माफ करोगी ?' और फूट-फूट कर रोती हुई वह मेरी गोद में लुढ़क गयी। मैंने उसके सर पर .. उसकी पीठ पर हाथ फेरा....उसके प्रति सहानुभूति की संवेदना व्यक्त की। कुछ समय मैंने उसे रोने दिया। मुझे लगा जो आग इसके भीतर धधक रही है उसे पानी बनकर बाहर निकलने दूं ! फिर जब उसका दिल कुछ हल्का हुआ, मैंने पानी छींटकर उसका चेहरा धुलवाया....और पानी पिलाकर कहा :

'रुक्मिणी ! बोल, अब तू क्या चाहती है ?'

'देवी, मैं आपसे माफी चाहती हूं। क्या मुझे माफ करोगी आप ?'

'देख रुक्मिणी, मैं न तो देवी हूं और न ही कोई महान् आत्मा ! मैं तो बस तुझ जैसी ही एक औरत हूं। मैंने तो तुझे कब की क्षमा दे दी है। तुझे तो मैंने अपनी छोटी बहन मानी है, फिर भला कैसे माफ नहीं करूंगी ? हां मैं चाहती हूं, तू यदि अपने स्वामिन् से माफी मांग ले तो....'

'नहीं....मैं क्या मुंह लेकर उनके पास जाऊं ? वे महान् हैं

श्रीर मैं अधमाधम हूं....।' घुटनों के सहारे मुँह टिकाकर यों बापक रो दी उसकी पीठ को सहलाते हुए मैंने कहा :

'रुक्मिणी, वे तो काफी उदार और गम्भीर महापुरुष हैं, तू चल मेरे साथ, उनके चरणों में तू अपना सब कुछ समर्पण कर दे। वे जरूर तुझे क्षमा करेंगे, क्षमा ही नहीं वे तुझे जी भर कर प्यार भी करेंगे !'

'नहीं . नहीं, मैंने अपनी लायकात खो दी है उनका प्यार पाने की ! मैं तो कुपात्र हूं....ईर्ष्या और डाह से मरी जा रही हूं। उनको छूने जितनी भी मुझमें योग्यता नहीं है। अस्पृश्य हूं....आप उन्हें कह देना कि मैं उनका नाम ले लेकर....उन्हें याद कर करके अपनी जिन्दगी के बाकी दिन गिन लूंगी....!'

'नहीं बहना, ऐसा संकोच या इतना अलगाव रखने की कोई जरूरत नहीं है। चल खड़ी हो जा, कपड़े बदल ले....शृंगार करले.... मैं तुझे मेरे साथ लेने के लिए ही आई हूं।

मैंने रुक्मिणी के चेहरे को ऊपर उठाकर उसकी आँखों में झांकते हुए उसकी अनुमति मांगी। उसकी आंखों में आर्द्रता थी। विवशता की घुटन थी, वेदना थी। मैंने महारानी से कहा : 'मौसी, रुक्मिणी के शादी के समय के कपड़े लाओ, उसके गहने लाओ, आज मैं अपने ही हाथों उसका शृंगार करूंगी।'

महारानी की आंखों में भी पानी आ गया। उनका दिल भर आया। वे बोलीं 'ऋषिदत्ता, सचमुच तू महादेवी है।' और वे जल्दी-जल्दी कमरे के बाहर चली गई। कुछ ही देर में रुक्मिणी के कपड़े

और गहने लेकर वे आ गयी। उनके पीछे-पीछे महाराजा सुरसुन्दर भी आ गये। मैंने दूर ही से उनको नमस्कार किया। उन्होंने मुझे आशिष दी और कहा : 'बेटी, रुक्मिणी को आज मैं तेरी गोद में सौंप रहा हूं। अब तू ही उसकी मां और तू ही उसकी बहन है। मेरी पहाड़ जितनी चिन्ता तूने दूर कर दी। तेरा उपकार तो....।'

बोलते-बोलते उनकी आवाज में नमीं आ गयी। मैंने कहा : 'आप तनिक भी चिन्ता न करें। महाराज कुमार उत्तम पुरुष हैं, उदार हृदयी हैं। उनके मन में रुक्मिणी के लिये कोई गुस्सा या दुराव नहीं है। हम दोनों को वो एक नजर से देखेंगे।'

रुक्मिणी ने कपड़े बदल लिये। मैंने उसे गहनों से सजाया। सारे राजमहल में खुशी की लहर फैल गयी। मैं रुक्मिणी को रथ में बिठाकर यहां ले आई मेरे साथ।

'तो क्या तू उसे यहां ले आई है?'

'जी हां मेरे देव!' कहकर वो जल्दी से बाहर गई—समीप के खंड में से रुक्मिणी को लेकर वो मेरे खंड में आई। रुक्मिणी मेरे चरणों में गिर गई। फफक-फफक कर रो दी। मैंने उसे खड़ी की.... और कहा :

'रुक्मिणी अब रो मत। मुझे तेरे लिये कोई नफरत या दुराव नहीं है। सारा गुस्सा तेरी इस बहन ने बाहर निकला दिया है। तेरे को पूरा प्यार करने का वचन भी उसने मुझसे ले लिया है।' रुक्मिणी ने कृतार्थता और कृतज्ञताभरी आंखों से ऋषिदत्ता के सामने देखा।

ऋषिदत्ता नीची नजर किये हुए धीरे-धीरे कदम भरती हुई शयनखंड से बाहर निकल गई।

रुक्मिणी मेरे पैरों में बैठ गयी। उसने कहा :

'स्वामिन् मैं पापिन हूं मैंने भयानक अपराध किया है....ईर्ष्या की मैं जीवंतमूर्ति हूं। जबकि महादेवी ऋषिदत्ता महासती है। क्षमा की देवी हैं। औदार्य का सागर हैं। गुणों की भंडार हैं....मैं तो उनके पैरों की धूल के बराबर भी नहीं हूं।'

'तेरी बात सही है रुक्मिणी, मेरे हृदय में उसके लिये जितना प्यार है....उतना ही तुझे देने का वचन मांगकर उसने कितना भव्य त्याग किया है...! कितना भव्य सत्कार्य किया है!'

'अब तो वे मेरी सब कुछ हैं देव!' रुक्मिणी की आवाज में कंपन था...प्यार का स्पंदन भी!

२२.

ऋषिदत्ता के स्नेहपूर्ण स्वभाव एवं वर्तन से रुक्मिणी की झिझक उसका अनमनापन कुछ ही दिनों में दूर हो गया। अब वो मेरे साथ भी बिल्कुल अपनेपन सा व्यवहार करने लगी और फिर मैंने भी कभी उसकी अतीत की गल्तियों का अहसास उसे होने नहीं दिया। मैंने अपने मन को भली-भांति समझा लिया था। किसी की भी गल्तियां को दिमाग में इकट्ठी करने से तो मन भी गन्दगी से भर जाता है।

ऋषिदत्ता भी जब-तब रुक्मिणी के गुणों की ओर खींचकर 'रुक्मिणी गुणशीला है' यह बात मेरे मन में वो बराबर स्थिर किये जा रही थी। ऋषिदत्ता चाहती थी कि मैं कभी भी रुक्मिणी का तिरस्कार न करूं, रुक्मिणी के प्रति उखड़ा न रहूं...और मेरे रुक्मिणी के प्रति सद्व्यवहार को देखकर वो प्रसन्न होती थी।

रुक्मिणी ने एक बार भरी-भरी आवाज में मुझसे कहा था : सचमुच ऋषिदत्ता असाधारण गुणों वाली सन्नारी है, जैसा उसका बाह्य रूप आकर्षक एवं मनभावन है वैसे ही उसका भीतरी व्यक्तित्व भी

काफी भव्य एवं सुशील है....न जाने अन्जाने में मैं उस पर कितना अन्याय कर बैठी ? मैंने कैसे कर्म बांधे होंगे ? कब होगा उन से छुटकारा ?'

मैंने रुक्मिणी को ढाढ़स बंधाते कहा था : 'रुक्मिणी, तू क्या सभी जीवात्मा कर्म के परवश हैं कभी भूल हो भी जाती है, अब उस दुःखद अतीत को याद मत किया कर। तूने तेरी गल्ती का कितना पश्चाताप कर लिया है! अब ज्यादा मायूस मत बन....अब तो तू और ऋषि हिल-मिलकर, बड़े प्यार से रहो, यही आवश्यक है।'

रुक्मिणी ने कहा : नाथ, आपकी बात बिल्कुल सही है, पर मेरी गलती को मैं कैसे भूल जाऊं ? मेरे कर्म तो मुझे भुगतने ही होंगे! तीव्र राग-द्वेष से आबद्ध कर्मों को भोगे बिना छुटकारा भी तो कहां ? यथार्थ को तो अपनाना ही होगा!'

'तेरी बात सत्य है, पर अब 'गतं न शोच्यम्' शोक करना उचित नहीं है। परमात्म भक्ति, तप वगैरह के द्वारा उन कर्मों का भार हल्का कर देना चाहिए।'

मैंने रुक्मिणी के दिल को हल्का करने का प्रयत्न किया। ऋषि-दत्ता तो हमेशा स्नेहपूर्ण व्यवहार से रुक्मिणी के दिल को खुश-खुश रखती थी। कुछ दिन यूं ही हंसते-खेलते कावेरी में बीत गये। एक दिन ऋषि ने मुझसे कहा : 'अपन अब रथमर्दन नगर चलें तो ? वहां माताजी आपकी चिन्ता कर रहे होंगे ? वो राह भी देख रहे होंगे ?'

और मेरी कल्पना के परदे पर मेरी ममतामयी मां का चेहरा

उभर आया। मैंने ऋषिदत्ता के सामने देखा, उसकी प्रश्नभरी निगाहें मेरे चेहरे पर ही ताक रही थी। मैंने कहा : 'हां, मुझे भी पिछले कई दिनों से मां की याद बहुत सता रही है, अपन कल ही यहां से चल देते हैं। मैं महाराजा सुरसुन्दर से बात करता हूं।'

भोजन वगैरह से निवृत्त होकर मैं रथ में बैठकर राजमहल में पहुंचा। महाराजा ने मेरा स्नेह भरे शब्दों में स्वागत करते हुए कुशलता पूछी। मैंने कहा : 'महाराजा, यहां कावेरी में मैं काफी दिन रुका अब रथमर्दनपुर भी जाना चाहिए, वहां पिताजी-मां वगैरह मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। वे चिन्तित भी होंगे इतने दिन हो जाने से।'

महाराजा के चेहरे पर ग्लानि की रेखाएं खिंच आयी....। उन्होने कहा : 'कुमार मानता हूं कि तुम यहां पर हमेशा रहने वाले नहीं, तुम यहां जितना रुकोगे उससे मुझे, मेरे मन को काफी प्रसन्नता मिलती है। पर तुम्हारी बात भी सही है। महाराजा हेमरथ तुम्हारी प्रतीक्षा करते ही होंगे। कब जाने की सोच रहे हो ?'

'हम कल सुबह ही यहां से प्रयाण करने का सोच रहे हैं।'

'कल ही ?'

'जी हां, कल ही प्रयाण करके जल्द से जल्द रथमर्दनपुर पहुंच जाने की इच्छा है।'

महाराजा ने परिचारिका को भेजकर महारानी को बुलवा लिया और उन्हें हमारे निर्णय की जानकारी दी। महारानी की आंखें छलछला उठी। वे कुछ बोल न सकी। आंचल से आंखे पोंछकर एकदम भर्रायी

आवाज में उन्होंने कहा : 'कुमार, तुम्हारा दिल विशाल है, उदार है, तुम ने रुक्मिणी के अपराध को भुलाकर उसे क्षमा कर दिया,....उसे स्नेह दिया, पत्नित्व का अधिकार दिया। तुम्हारा उपकार हम कभी नहीं भूलेंगे: कुमार तुम तो वास्तव में देवता हो।'

महाराजा सुरसुन्दर रो पड़े। मेरी आंखों में भी नमी तैर आयी....। मैंने कहा : 'अब आप रुक्मिणी की किसी भीतरह की चिंता न करें। मेरे दिल में उसके प्रति पूरा स्नेह और सद्भाव है। उसका दिल भी अब तो स्वच्छ और स्नेह से भरा-भरा हो चुका है। ऋषिदत्ता के प्रति उसके दिल में अपार स्नेह है, आस्था है।'

'ऋषिदत्ता तो ऋषिदत्ता ही है कुमार....उसने ही तो रुक्मिणी की जिन्दगी को दुःख की गर्त में गिरने से बचा लिया। कुमार....हम तो तुमसे इतना ही मांगते हैं कि....कभी हमें भी याद करना... कावेरी पधारना....।'

महाराजा ने रथ भेजकर ऋषिदत्ता और रुक्मिणी को महल में बुलवा लिया था। हमारी बातें चल रही थीं कि उन दोनों ने हाथ में हाथ बांधे प्रवेश किया, दूर से हम तीनों को नमस्कार करके दोनों एक तरफ बैठ गयीं।

महाराजा सुरसुन्दर एवं महारानी की आंखें रुक्मणी पर टिकी हुई थी। महाराजा ने रुक्मिणी को कहा : रुक्मिणी, अब तू हमको छोड़ कर अपने घर चली जायेगी। रथमर्दन नगर तूं जायेगी, बेटी, वहां तू अपने गुणों की सुवास फैलाना। तुझे जन्म देने वाले माता-पिता

की कीर्ति को बढ़ाना । पति को परमात्मा के तुल्य मानना । अपने शील को प्राण से भी अधिक कीमती समझना । ऋषिदत्ता को तू अपनी परम उपकारिणी बड़ी बहन मानना । बड़ों का विनय मत चूकना । तेरे उचित कर्त्तव्यों का सुचारु रूप से पालन करना । ज्यादा तो तुझे क्या कहूं? तेरी जुदाई की पीड़ा...' महाराज की आंखें बहने लगीं । उनका स्वर भर्रा गया । रुक्मिणी भी रोये जा रही थी । ऋषिदत्ता ने रुक्मिणी को अपनी तरफ खींच कर उसे सांत्वना देने का प्रयत्न किया ।

गद्गद् स्वर में महाराजा ने ऋषिदत्ता से कहा : 'बेटी ऋषिदत्ता, सचमुच तू तो ऋषि की कन्या है, राजर्षि की बेटी है । तेरे गुण, तेरी करुणा, तेरा निर्दोष जीवन सच कितना अद्भुत और उन्नत है ! तेरा दिल कितना प्यार से भरा भरा और उदार है ! रुक्मिणी को क्षमा करके तूने हम सबको उपकार से दबा दिये हैं... । हम तेरे इस उपकार को कभी नहीं भूल सकते और नहीं किसी भी कीमत पर उपकार का बदला हम चुका सकते । न जाने कब इस ऋण से हम मुक्त होंगे ?'

'बेटी, अब तू रुक्मिणी को संभालना । अभी वो नादान है.... कभी वो गल्ती कर बैठे, कभी गलत व्यवहार भी कर बैठे तो उसे माफ कर देना...उसे तेरे साथ ही रखना, हर एक कार्य में । तुझसे तो कहना ही क्या ? फिर भी मेरे लिए तू मेरी ही बेटी है । बस वो ही पितृ वात्सल्य यह सब बुलवा रहा है । बेटी, कभी हमें भी याद करना । कभी कावेरी चली आना । यह राजमहल यह राजा-रानी सब कुछ तेरा ही है । यह तेरा पितृगृह ही है । तू इसे अपना नैहर ही समझना ।'

ऋषिदत्ता ने जमीन पर आंखें झुकाए कहा : 'पिताजी, आप क्यों

मेरी झूठी प्रशंसा करके मुझे शरमा रहे हो ? मेरे में ऐसा वैसा कोई कुछ नहीं है । और फिर गलती तो हर एक से होती ही रहती है । रुक्मिणी तो मेरी छोटी बहनही है । कुछ दिन के परिचय में ही मैंनें उसमें न जाने कितने गुण पाये हैं वो पुण्यशीला है । आप उसकी तनिक भी चिंता न करें ।

आप और मौसी ने मुझे जो अपार स्नेह दिया है वो मैं कभी नही भूलूंगी । मैं चाहती हूं कि हमें आपकी आशीष हमेशा मिलती रहे । मेरे से जाने अनजाने में आपका कोई अविनय हुआ हो तो मैं क्षमा मांगती हूं ।'

ऋषिदत्ता की आवाज भारी हो गई । वो आगे बोल न सकी । मैंने महाराजा से कहा :

'महाराजा, मेरे कारण आपको काफी चिंताएं हुई । आपको ढ़ेर सारी तकलीफें उठानी पड़ी । आप तो मेरे पिता-तुल्य हो । मुझे माफ कर देना । आपकी शुभ कामना लेकर ही हम यहां से चलेंगे !'

भोजन का समय हो चुका था । हम सब भोजन करने के लिये खड़े हुए ।

भोजन वगैरह से निवृत होकर ऋषिदत्ता और रुक्मिणी के साथ मैं मेरे महल पर आया । सारे नगर में हमारे रथमर्दन नगर जाने के समाचार फैल चुके थे । नगर के प्रमुख लोग मिलने आने लगे । उनके साथ बातों बातों में दुपहर का समय बीत गया । ऋषि और रुक्मिणी भी अनेक स्त्रियों से घिरी हुई बैठी थी ।

मैं कुछ देर आराम करने के लिये मेरे शयनगृह में चला आया। पलंग पर लेट गया। आंखें मूंद ली....और मेरे दिलों दिमाग में रथ-मर्दन नगर की अनेक स्मृतियां उभरने लगी। मां और पिताजी की याद आ गई। ऋषिदत्ता को देख कर पिताजी वगैरह कैसे स्तब्ध रह जायेंगे इस विचार से मैं सिहर उठा। जब वे सत्य हकीकत जानेंगे तब........।'

पर मैं इस विचार के आते ही और ज्यादा सिहर उठा। मेरा मन कुछ चिंतत हो गया। सत्य हकीकत में रुक्मिणी शामिल थी। यदि यह बात मां और पिताजी जानेंगे तो रुक्मिणी के प्रति उन्हें अरुचि और नफरत पैदा होगी। वे रुक्मिणी को गिरी नजरों से देखने लगेंगे। तो रुक्मिणी के दिल पर इसका असर कितना बुरा होगा। उसके भीतर उदासीनता और हीनताग्रंथि पनप उठेगी और उसका जीना दूभर हो जायेगा। नहीं, नहीं, यह बात तो खोलनी ही नहीं चाहिए। इस बात में रुक्मिणी को लाये बगैर बात करनी चाहिए।

मेरे दिल में रुक्मिणी के प्रति सहानुभूति उभर आयी। रथमर्दन नगर में, राजमहल में, किसी के भी दिल में रुक्मिणी के प्रति अरुचि या हीनभावना नहीं पैदा होनी चाहिए। उसकी गलती का किसी को अहसास तक नहीं आना चाहिए। रुक्मिणी के दिल में मेरे और ऋषि-दत्ता के प्रति प्रगाढ़ विश्वास है। पूरी श्रद्धा है। उस श्रद्धा और विश्वास के बल पर तो वह हमारे साथ आ रही है।

मैं भी कभी उसे उसकी गल्ती का अहसास नहीं दिलाऊंगा। उसके दिल को पीड़ा हो वैसा नहीं करूंगा। मेरे से वो मात्र स्नेह और प्यार की अपेक्षा ही रखती है, और यह स्वाभाविक है।

मैं इन विचारों में डूबा था कि शयनखंड में ऋषिदत्ता ने प्रवेश किया। सांझ के भोजन का समय हो चुका था। वो भोजन के लिये बुलाने आई थी। मैं गया उसके साथ भोजन करने के लिये। मेरे चेहरे पर के तनाव के कारण ऋषिदत्ता को ख्याल तो आ ही गया कि मैं किसी गम्भीर विचार में डूबा हूं। पर उसने उस समय मुझसे कुछ पूछा नहीं।

भोजन के बाद रुक्मिणी उसके माता-पिता को मिलने राजमहल चली गयी। मैं महल के झरोखें में जाकर बैठा कुछ देर बाद ऋषि भी आकर बैठ गयी मेरे पास। मैंने निःशब्द उसकी ओर देखा। वो कुछ प्रश्न भरी निगाहों से मुझे देखती रही। दो पल की खामोशी के बाद ऋषिदत्ता ने कहा :

'मुझे आपसे एक महत्व की बात करनी है ?'

'क्या ?'

'रथमर्दन नगर में मुझे बेगुनाह सिद्ध करते हुए कहीं रुक्मिणी गुनहगार न बन जाय औरों की निगाहों में, इसकी सावधानी बरतनी होगी।

'वाह यह भी क्या खूब रही ! मैं भी तो दुपहर से इसी उधेड़बुन में लगा हूं....मैं शाम को भी उन्हीं विचारों में खोया हुआ था !

'वो तो मैं समझ ही गयी थी कि आप किसी गहरे विचार में डूबे हो !'

'वह गम्भीर विचार और कोई नहीं, पर यही था कि रुक्मिणी की गलती रथमर्दन नगर में कहने की गलती कहीं अपन कर बैठे।' हालांकि तुझे जिन्दा पाकर मां-पिताजी और समूचा नगर विस्मय के मारे दांतों तले ऊंगली दबा देगा। सभी के दिल व दिमाग में कुहराम मच जायेगा। पर उन सब के लिये, तू सुरक्षित है, जीवित है यही तेरी बेगुनाही का पर्याप्त सबूत हो रहेगा।'

'पर सुलसा जोगन की बात किये बगैर हत्याओं पर से परदा कैसे उठेगा और जब तक हत्याओं पर नकाब नहीं उठता मेरी निर्दोषण पूरी तरह सिद्ध नहीं हो सकती!'

'हां, यह बात भी यही है। हूं, ऐसा हो सकता है, सुलसा जोगन की बात कहें पर उसको प्रेरणा देने वाली रुक्मिणी थी यह बात नहीं निकलनी चाहिए लेकिन यदि केवल जोगन की बात करेंगे तो प्रश्न होगा जोगन ने ऐसा क्यों किया? उसकी कौनसी ऐसी मजबूरी थी? ऋषिदत्ता से उसकी क्या दुश्मनी?

ऋषि सोच में डूब गयी। कुछ पल बीते और यकायक उसकी आंखों में चमक उभरी, उसने कहा: 'ऐसा करें, अपन बात ऐसे कहें कि जोगन जो थी, वो रुक्मिणी की सहेली थी बचपन की। जब उसने जाना कि कुमार तो रास्ते में ही किसी ऋषिकन्या से शादी करके वापस लौट गये है और रुक्मिणी तो कुमार के अलावा किसी के भी साथ शादी नहीं करने की ठान बैठी है तब उस जोगन ने अपनी सहेली के लिये खुद ने सारी साजिश की और उसने ऋषिदत्ता को शिकार बनाया। लोगों की निगाहों में उसे हत्यारिन के रूप में जलील करके राजकुमार से अलग

करवा दिया। जब उसे सफलता मिली उसने कावेरी जाकर रुक्मिणी को सारी बात बतायी। रुक्मिणी तो यह सुनकर ठिठक गयी। उसने उसे बहुत कोसा....वगैरह।'

'शादी के बाद यह बात रुक्मिणी ने मुझसे कही....मैंने रुक्मिणी के पिता से कही, उन्होंने उस जोगन को देश निकाला दिया।'

'बिल्कुल, बराबर!' ऋषिदत्ता खुश खुश हो गयी।

'और जब पिताजी इस घटना को जानेंगे, तब वे कितने लज्जित होंगे तेरी निर्दोषता सुनकर?

'लज्जित ही नहीं, बल्कि उन्हें काफी दुःख होगा, पश्चात्ताप होगा....उनकी आंखे आंसूओं से भर आयेंगी....।'

बोलते बोलते ऋषि की आंखें नम हो आयी। मैंने कहा: 'पर, एक सावधानी रखनी होगी, जब पिताजी अपनी भूल पर दुःख व्यक्त करें.... तब कही भावावेश में आकर रुक्मिणी अपनी गल्ती स्वयं कबूल न करले। भावुकता में ऐसी भूल हो जाना स्वाभाविक है। अचानक वो बोल उठे कि 'नहीं-नहीं पिताजी, आपकी गलती नहीं गल्ती तो मेरी हैमैंने ही जोगन के द्वारा सारा षड़यन्त्र रचाया था।'

'सही कहना है आपका, रुक्मिणी को मैं समझा दूंगी।'

'हालांकि अभी तक मैंने तेरा कोई समाचार पिताजी को भेजा ही नहीं है। वे तो इन सारी घटनाओं से बिल्कुल अन्जान ही हैं, तुझे देखकर तो वे आश्चर्य से सहम जायेंगे।'

'ठीक है, अभी कुछ मालुम करने की जरूरत भी क्या है ?' बातें चल रही थी कि रुक्मिणी आ पहुंची राजमहल से। वो आकर ऋषि के पास बैठ गयी।

ऋषि ने कहा : रुक्मिणी, तू तो रथमर्दन नगर को पहली बार ही देखेगी क्यों ?'

'यह तो ठीक, पर उससे पहले तो मैं वो आश्रम देखूंगी आपका, कि जहां आप पैदा हुई आप बड़ी हुई और जिस आश्रम ने आपकी रक्षा की विपत्ति के बीच भी ! उस आश्रम की धूलि को माथे पर चढाऊंगी !

'उस आश्रम में भगवान ऋषभदेव का जो मंदिर है उसे देखकर तो तू खुशी से झूम उठेगी।'

'और जब तू मेरी माँ से मिलेगी, उसे देखेगी...., उसका प्यार उसका वात्सल्य पायेगी तब तू धन्य हो जायेगी। ऋषिदत्ता को तो उस का अनुभव हैं।'

फिर तो ऋषि ने स्वयं मेरी मां की बातें कही, उन्हें सुनकर रुक्मिणी गद्गद् हो उठी। बातों बातों में रात काफी बीत चुकी थी। सुबह ही हमें वहां से चलना था। कुछ तैयारियां करनी भी बाकी थी। हम खड़े हुए और हमारे कार्य में लग गये।

कावेरी और रथमर्दन नगर की खट्टी-मीठी यादों में खोया खोया मैं नींद के झूले में झूलने लगा।

२३.

राजपरिवार और कावेरी नगर के नागरिकों की आंसूभरी अलविदा लेकर हमने रथमर्दन नगर की तरफ प्रयाण कर दिया। जिस रास्ते से होकर हम आये थे उसी रास्ते होकर वापस आने का तय किया था। चूंकि रुक्मिणी ऋषिदत्ता का आश्रम देखने के लिये लालायित थी। ऋषिदत्ता उसके पिता राजर्षि के स्तूप के दर्शन करने के लिये उत्कंठित थी और मेरा मन चाहता था परमात्मा ऋषभदेव के चरणकमल का स्पर्श! जिनकी कृपा के बल पर मैंने मेरी खोयी हुई दुनिया वापस पा ली।

आश्रम का रास्ता तय होता रहा और दूर से आश्रम के मन्दिर की ध्वजा लहलहाती नजर आयी। ऋषि का चेहरा टेसू सा निखर रहा था। आश्रम आते ही हमने वहीं पर अपना पड़ाव डाल दिया। रुक्मिणी का हाथ पकड़ कर ऋषि मन्दिर की सीढ़ियां चढ़ने लगी, मैं भी पीछे-पीछे आ रहा था। परमात्मा आदिनाथ के दर्शन... स्तवन से मेरा दिल प्रसन्न हो उठा। मेरे रोयें रोयें में सिरहन फैली जा रही थी। हम तीनों ने मधुर मंजुल स्वर में प्रार्थना की। परमात्मा

की प्रतिमा के नेत्रों से करुणा का झरना बहता नजर आया। हम भावविभोर होकर प्रार्थना में लीन बन गये थे।

वहां से राजर्षि के स्तूप पर गये। ऋषिदत्ता का हंसता-खिलता चेहरा मायूसी की गिरफ्त में जकड़ाने लगा। उसके होठों पर खामोशी पर्त दर पर्त जमती गई। उसकी चंचल हिरनी सी आंखें पथरा गयी। सूखं आंखों में नमी तैरने लगी। और वो एकदम जमीन पर ढेर हो गयी....मैंने, रुक्मिणी ने भी आंखें मूंदकर हाथ जोड़े। मेरी स्मृति में राजर्षि का चेहरा तैरने लगा। मैंने ऋषि के दोनों हाथ पकड़ कर उसे खड़ा किया। वो रो रही थी। मैंने मेरे उत्तरीय वस्त्र के छोर से उसकी आंखें पोंछी, रुक्मिणी भी शायद अपनी गीली पलकों को पोंछ रही थी। उसने ऋषिदत्ता का हाथ पकड़ लिया।

हम तीनों वहां से चलकर उस कुटीर में गये जहां राजर्षि का निवास था और उसके बाद ऋषिदत्ता स्वयं ऋषिकुमार के रूप में रही थी। वहां हम तीनों बैठे। रुक्मिणी ने ऋषिदत्ता से कहा :

'यहां एक दिन अपन रुक जायें तो? कितनी सुहावनी जगह है!' ऋषिदत्ता ने आंख उठाकर मेरे सामने देखा। मेरे चेहरे पर स्वीकृति सूचक स्मित झलक आया। रुक्मिणी तो खुश खुश हो गई। 'अपन इस कुटिर में रुकेंगे।' ऐसा कहकर वो कुटिर साफ करने लग गई। ऋषिदत्ता ने परिचारिका को बुलाकर भोजन वगैरह की जरूरी सूचनाएं दे दीं। सेनापति को एक दिन रुकने का आदेश दिया।

कुछ देर में तो रुक्मिणी ने परिचारिकाओं की सहायता से पूरी कुटिर को सजा दिया। मन्दिर में घी के दीये जलाये गये।

राजर्षि की समाधि पर दीवे झिलमिलाने लगे। संध्या से पहले भोजन वगैरह से निवृत्त होकर, हम तीनों आश्रम के उद्यान में घूमने निकल पड़े। ऋषिदत्ता ने रुक्मिणी को वह सरोवर भी बताया जहां पर सर्व प्रथम उसने मुझे देखा था।

आश्रम के इर्द-गिर्द घूम कर हम जिन-मंदिर में जा पहुंचे। आरती का समय हो गया था, हमने प्रभुभक्ति में तल्लीन होकर आरती उतारी। परमात्मा के चरणों में भावपूर्वक वंदना करके हम कुटीर में आ गये।

कुटिर में आते ही फिर गप-शप चालू हो गया। ऋषिदत्ता रुक्मिणी को अपने बचपन के कुछ किस्से...कुछ यादें....सुनाने लगी। वे दोनों बातों ही बातों में दूसरी दुनिया में पहुंच गये थे। इधर मैं अपने जीवन की घटनाओं में घूमता हुआ अपने आपको टटोल रहा था। रात का एक प्रहर बीत चुका था। हमने सोने की तैयारी की।

दूसरे दिन सुबह तड़के ही हमने वहां से प्रयाण कर दिया। अब तो रास्ते में एक ही जगह विश्राम लेने का था, फिर तो रथमर्दन नगर में पहुंच जाना था। आश्रम में पहुंचते ही मैंने दो घुड़सवारों को रथमर्दन नगर की ओर भेज दिये थे, पिताजी को समाचार देने के लिये।

जब हम नगर के पास पहुंचे तब दूर से देखा तो नगर के बाहर सैकड़ों लोग इकट्ठे हुए थे। और हमारे रथ की गति तीव्र हुई। कुछ दूर बाद तो हम लोग रथमर्दन नगर के बाहरी इलाके में पहुंच गये। पिताजी स्वयं लेने के लिये आये थे। मैंने दूर से ही पिताजी को आते

देख लिया था। मैं रथ में से नीचे उतर गया। ऋषिदत्ता और रुक्मिणी भी रथ में से उतर आये। मैंने पिताजी के चरणों में नमस्कार किया। ऋषि और रुक्मिणी दोनों दूर ही से पिताजी को प्रणाम करके एक तरफ खड़ी रही।

हजारों नगरजन उत्सव हो वैसे खुशियों में झूम रहे थे। पिताजी के साथ मैं उनके रथ में बैठा। मेरे रथ में ऋषि और रुक्मिणी बैठी। स्वागतयात्रा चालू हुई। रथमर्दन के राजमार्गों पर से घूमकर हम राजमहल में पहुँचे। राजमहल के झरोखे में खड़े रहकर मैंने नगरवासियों का अभिवादन किया। सभी नागरिक प्रसन्न होते हुए बिखरने लगे।

मैं वहाँ से निकलकर, ऋषिदत्ता और रुक्मिणी को लेकर, मां के पास पहुंचा। मां के चरणों में सर टेककर मैंने वंदना की। ऋषिदत्ता व रुक्मिणी ने भी मां के चरणों में वंदना करते हुए कहा :

'माताजी, मैं ऋषिदत्ता आपके चरणों में वंदना करती हूं।'

'माताजी, मैं रुक्मिणी आपके चरणों में वंदना करती हूं।'

मां तो पलभर के लिये पुतली सी स्तब्ध रह गयी....। दोनों बहुओं को देखती ही रही। ऋषि को देखकर उन्हें अपनी आंखों पर विश्वास नहीं आ रहा था। उन्हें लगा जैसे वो कोई सपना ही देख रही हो! उन्होंने पलक झपकते हुए मेरे सामने देखा।....मैंने कहा :

'मां, यह दोनों तेरी पुत्रवधूएं ही हैं।'

'पर यह मेरी ऋषिदत्ता कहाँ से....'

'जिन्दा हो गई ? यही कहना है न ?'

'मुझे कुछ समज में नहीं आ रहा है बेटा, ऋषि को देखकर मेरे आश्चर्य का पार नहीं है।'

'माँ, तेरा आश्चर्य ज्यादा नहीं टिकेगा, जब तू सारी बात जानेगी... पर पहले हम पिताजी को वंदना कर आते हैं फिर बात करूंगा।'

हम पिताजी के खंड में पहुंचे। मैंने पिताजी के चरणों में नमस्कार किया। ऋषिदत्ता और रुक्मिणी ने भी प्रणाम किया। पिताजी ने मुझे अपने पास बिठाकर कुशलता पूछी...। रुक्मिणी के सामने देखा। समीप खड़ी ऋषिदत्ता को देखा। उन्हें कुछ अनमना सा लगा और वे सोच में पड़ गये। उन्होंने मेरे सामने देखते हुए कहा :

'कुमार, रुक्मिणी के साथ यह कौन है ?'

'ऋषिदत्ता !'

'क्या ? नहीं, वो कैसे हो सकती है ? उसे तो....'

'पिताजी, 'धर्मो रक्षति: रक्षित:' जो मनुष्य अपने दिल में धर्म की रक्षा करता है धर्म उसको पनाह देता है ! उसकी रक्षा करता है ! आप जल्लादों को बुलाकर जरा पूछिएगा कि उन्होंने ऋषिदत्ता की हत्या की थी क्या ? फिर मैं सारी बात कहूंगा।'

पिताजी विचारों में डूबने लगे। मैंने कहा : 'पिताजी, ऋषि-दत्ता पूर्णतया बेगुनाह है, उस पर कैसे और किसने इल्जाम लगाया यह

बात मैं फिर आपको बताता हूं....पहले हम निपट ले। भोजन-स्नान वगैरह से निवृत्त होकर बातें करेंगे। मां भी तो सब कुछ जानने के लिये बैचेन है।'

'अच्छा, तुम सब स्नान वगैरह से निपट लो!'

मैं ऋषिदत्ता और रुक्मिणी के साथ मेरे खंड में पहुँचा और दैनिकचर्या में लग गया। ऋषि और रुक्मिणी मां के पास चली गयी। सारे राजमहल में ऋषि के पुनरागमन की बात हवा की भांति फैल गयी....साथ ही नगर में भी वह बात चर्चा का रूप लेने लगी।

भोजन वगैरह से निवृत्त होकर हम सब पिताजी के खंड में एकत्र हुए। मैंने बात शुरू की। श्मशान में ऋषि का बेहोश हो जाना, जल्लादों का ऋषि को मृत समझकर वहां से चले जाना वगैरह सारी बात मैंने की। कावेरी में रुक्मिणी के द्वारा सुलसा जोगन के षड्यन्त्र की जानकारी कैसे मिली...वह बात की तब पिताजी की सांसे थम सी गयी....। मां तो ऋषिदत्ता को अपने पार्श्व में खींचकर उसकी पीठ सहलाने लगी। रुक्मिणी अपनी आंखों को बार-बार पोंछ रही थी। सारा वातावरण करुणता से भर गया... पिताजी की आंखें बरबस बहने लगी वे भरांयी आवाज में बोले: 'मैंने खुद के हाथों कितना करारा अन्याय कर डाला? अपनी महासती सी पुत्रवधु को काल कराल के पंजों में झोंक दिया। मैंने कैसा घोर पाप बांधा है? कैसे चिकने कर्म मैंने बांधे?'' पिताजी के शब्दों में वेदना का लावा उफन रहा था। उनके दिल की पीड़ा आंसू बनकर बहे जा रही थी। वे फफक पड़े। मैंने उनको सान्त्वना देने का प्रयास किया और कहा:

'पिताजी, इससे आपका क्या कसूर ? ऋषि का ही कोई पाप-कर्म उदय में आया होगा जिस कारण उस पर इतना घिनौना कलंक आया। आप भी क्या कर सकते थे ? अब आप शोक न करें। जिसका अन्त सुखद उसका सब कुछ सफल ! ऋषि जिन्दा वापस मिल आयी इतना ही काफी है अपने लिये तो !'

'बेटा, तेरी बात सही है....पर मेरी गल्ती मुझे चोट दे रही है ! मैंने अपनी बहू पर कितना जालिम जुल्म गुजारा ? बेटी, ऋषिदत्ता मैं तेरे पास मेरे गुनाह की माफी चाहता हूँ ..., पिताजी के स्वर में रुलाई टपकती थी। हम सब भी रो रहे थे। ऋषिदत्ता ने स्वस्थ बनते हुए कहा : 'पिताजी, आप क्षमा क्यों मांगते हो ? आप तो प्रजा-वत्सल हो, आपके दिल में प्रजा की खुशहाली बसी है प्रजाजनों की निर्मम हत्याएं आपके दिल को दहला दे यह स्वाभाविक है, और फिर इत्तफाक भी कुछ ऐसे खड़े हो गये कि आप मुझे सजा यदि न करें तो आपकी कर्तव्यशीलता आपको हर पल कोसती रहे। आपने अपने पुत्र-स्नेह का बलिदान दिया और प्रजा के हित के लिये, उसकी सुरक्षा के लिये कदम उठाया....आप बिल्कुल बेगुनाह है !'

ऋषिदत्ता की बात से पिताजी के दिल को ढाढ़स बंधा, पर उनके भीतर की पीड़ा ज्यों की त्यों थी। उन्होंने कहा :

'कुमार, नगरजनों को ऋषिदत्ता की निर्दोषता की प्रतीति हो इसलिए कल राज्यसभा में मैं सुलसा जोगन के षड़यन्त्र की बात करूंगा और ऋषिदत्ता को बेगुनाह घोषित करूंगा।'

पिताजी ने हम सब को जाने की आज्ञा दी। मां के साथ हम सब बाहर निकले और मां के कमरे में पहुँचे। रुक्मिणी तो बस मां

के आगे ऋषिदत्ता के गुण गाने लगीं। ऋषि ने कुछ झिझकते हुए कहा : 'यदि मेरे गुण ही गाना हैं तो फिर मैं तो यह चली!' तब कहीं रुक्मिणी ने बात बंद की। फिर तो मां के साथ हमने ढेर सारी बातें की। मां का दिल खुश-खुश होकर सरसों के फूलों सा खिल उठा। दूसरे दिन शानदार राजसभा भरी। नगर के प्रमुख नागरिकों के उपरांत अन्य भी अनेक नागरिक राजसभा में उपस्थित थे। सबके चेहरे पर खुशी के गुलाब खिल रहे थे। उल्लास का उफान था। पर पिताजी के चेहरे पर गंभीरता थी....खामोशीथी।

राजदरबार की औपचारिक विधि होने के पश्चात् पिताजी ने अपना वक्तव्य प्रारम्भ किया। जब उन्होंने ऋषिदत्ता को कलंकित करने के सुलसा जोगन के षड्यन्त्र की बात की तब सबके चेहरे पर सुलसा के प्रति नफरत का भाव तैर आया। पिताजी ने ऋषिदत्ता के बच जाने की, जड़ी-बुटी के प्रभाव से पुरुषरूप में बदलने की और अंत में मेरे साथ कावेरी तक जाने की....वगैरह बातें की तो राजदरबार में आनन्द की लहर दौड़ आयी।

ऋषिदत्ता को लेकर मैं आया हूं, यह बात घोषित होने से राजसभा में ऋषिदत्ता की जयजयकार होने लगी। कुछ पल खामोशी की गिरफ्त में बीते और पुनः पिताजी ने अपना वक्तव्य आगे बढ़ाया :

'वफादार मन्त्रीमण्डल, एवं प्यारे प्रजाजन, तुम्हें शायद मेरा निर्णय जानकर काफी दुःख होगा पर मुझे वो निर्णय तुम्हारे सामने रखना ही होगा। मेरा मन इस संसार से विरक्त हो चुका है। मैं अब त्याग के संयम के मार्ग पर जाना चाहता हूं। वैसे भी अब राजकुमार कनकरथ राजा बनने के लिए योग्य हो चुका है। मुझे विश्वास है कि

वह राज्य का सुन्दर संचालन करेगा और प्रजा का पालन कुशलता से करेगा।

अब मेरी तो उम्र ही आत्मा-साधना करने की है। वृद्धावस्था आ ही गई है। जिन्दगी का भरोसा क्या ? इन्द्रियों की शक्ति क्षीण बनती जा रही है। जब तक देह एवं इन्द्रियां सशक्त हैं तब तक त्यागी बनकर चारित्र धर्म की आराधना कर लूं....!

सर्व प्रथम तो शुभ मुहूर्त में मैं राजकुमार का राज्याभिषेक करुंगा तत्पश्चात् में चारित्र की राह पर प्रयाण करुंगा।'

पिताजी ने राजपुरोहित को राज्याभिषेक का शुभ दिन देखने की आज्ञा भी दे दी।

पिताजी ने यकायक....सहसा संसार-त्याग की जो घोषणा की उससे मैं तो हक्का बक्का रह गया। अच्छा हुआ घोषणा के वक्त मां वहां पर उपस्थित न थी, वर्ना वो होती तो ? शायद बेहोश होकर गिर जाती ! करुण विलाप करती !

राजसभा की समाप्ति हुई। लोग भी सब चले गये। मैं पिताजी के साथ ही राजमहल में आया। पिताजी सीधे मां के खंड में चले गये। मैं अपने खंड में पहुंचा। वहां ऋषिदत्ता और रुक्मिणी मेरा इन्तजार करते हुए बैठी थीं ! मैंने आकर राजसभा में हुई सारी बात कह सुनायी। जब उन्होंने पिताजी के संसार त्याग की घोषणा की बात सुनी तो वे दोनों बुरी तरह चौंक उठी। 'क्या सचमुच पिताजी संयम के रास्ते पर चले जायेंगे। सचमुच में संसार का त्याग कर देंगे ?' 'हां पिताजी को कभी मैंने अपने निर्णय में से डिगते नहीं देखा।'

'पर, क्या माताजी उन्हें इजाजत देगी ?'

'हालांकि मां की भावुकता तो जाने की इजाजत किसी भी हालत में नहीं देगी पर समझदारी तो त्याग के रास्ते पर जाते हुए किसी को रोक नहीं सकती ! मां काफी दु:खी होगी....वो रोयेगी....पर वो पिताजी के रास्ते में विघ्नरूप तो नहीं होगी ! आखिर पिताजी को मानव जीवन की सफलता के लिए आत्मकल्याण की साधना करने देना ही चाहिये ।'

'मां को समाचार तो मिल गये होंगे ?'

'पिताजी राजसभा में से सीधे मां के पास ही गये है । वे यह बात करने के लिये ही गये होंगे ।'

'तो तो....' ऋषिदत्ता की आंखें डबडबायी ।

'मां रो रही होगी यही कहना है न ?'

'हां, मैं जाऊं मां के पास ?'

'पिताजी वहां से चल दे फिर तुरन्त अपन मां के पास जाते है !' ऋषिदत्ता बोली नहीं, वो गहरे सोच में डूब गयी । रुक्मिणी भी जैसे शून्यमनस्क जैसी हो गयी । मैं पश्चिम के वातायान में आकर खड़ा रह गया । नगर के मन्दिरों पर लहलहाती ध्वजाएं नजर आयी....दूर-दूर क्षितिज पर धरती और आकाश मिलते नजर आये । आकाश में कहीं-कहीं छितरायी जामुनी बदलियां तैरती नजर आयी .. जैसे कि अन्त्ययात्रा चालू हो गयी हो, वैसा आभास हुआ । पिताजी के संसार-त्याग के निर्णय ने मेरे अंतकरण में भी काफी सनसनाहट फैला दी

थी। गहरे-गहरे मेरे दिल में भी संयम जीवन का लगाव था। वो मुझे समझ में आया। इस संसार की क्षणभंगुरता...जीवन की असारता और आत्मा की विशुद्ध के विचार मुझे भी कई बार आ जाते थे।

भोजन का समय हो चुका था पर आज भोजन करने की सुध किसे थी? समूचा राजमहल चुप्पी की चूनर में सिमट गया था। चोतरफ उदासी और आंसूओं की चहल कदमी थी....

२४.

शुभ मुहूर्त में मेरा राज्याभिषेक हो गया। पूरे नगर में उत्सव और उमंग का वातावरण छा गया। अभी तो राज्याभिषेक का उत्सव चल ही रहा था कि उद्यानपालक ने आकर समाचार दिये : 'नगर के बाह्य उद्यान में एक तेजस्वी प्रतिभासंपन्न जैनाचार्य अपने कई शिष्यों के साथ पधारे हैं।' समाचार पाकर हमारी खुशी द्विगुणित बनी और फिर पिताजी की तो मनचाही मुराद पूरी हो रही थी!

पिताजी के साथ हम सब उन पूज्य आचार्य श्री के दर्शन-वंदन के लिये और उनका उपदेश श्रवण करने के लिये बाह्य उद्यान में गये। आम्रवृक्ष और अशोकवृक्ष की कुंजघटाओं में कुछ ऐसी छोटी-छोटी पर्णकुटियां बनी हुई थी कि जहां साधु-संत एवं पदयात्रिक लोग निवास कर सकते थे। हमने वहां देखा तो वे सारी कुटिरें एवं पूरा उद्यान साधु-पुरुषों के ज्ञान-ध्यान भक्ति-सेवा और स्वाध्याय से पुलकित बन रहा था।

आचार्य भगवंत का पुण्यनाम श्री महाचार्यजी था। हमने जब नतमस्तक बनकर उनके चरण कमलों में भावपूर्वक वंदना की तब

उन्होंने 'धर्मलाभ' का मधुर आशीर्वाद दिया। उनके आशीर्वचन में मधुरता थी....करुणा थी और दिल के प्रत्येक तार को झनझना देने वाली शक्ति थी।

उन्होंने हमें धर्मोपदेश दिया। वैषयिक सुखों की निःसारता, भयंकरता और क्षणिकता समझायी। मोक्षसुख-परमसुख की कल्पना दी, मोक्षमार्ग का स्वरूप समझाया। अनेक द्रष्टांत और दलीलों से उन बातों को स्पष्ट की। वाणी में जितनी मिठास थी उतनी ही चोट थी।

रसलीन-तल्लीन बनकर हम उस उपदेश-प्रवाह में बहते रहे। उपदेशधारा पूर्ण होने पर पिताजी ने खड़े होकर दो हाथ जोड़े, सर झुकाया, आचार्य देव को विनती की : भगवंत ! मैं चारित्र-धर्म के मार्ग पर चलना चाहता हूं....आप मुझे चारित्र-धर्म को प्रदान करके इस संसार की बेड़ियों से छुटकारा दिलवाने की कृपा करें ! मेरे भीतर आत्मा के शुद्ध स्वरुप को प्राप्त करने की तमन्ना जगी है !'

हम सब इस यकायक घोषणा से कुछ आहत हुए। आचार्य श्री का मधुरस्वर गूंज उठा : महानुभाव ! तुम्हारा संकल्प श्रेष्ठ है, तुम मानव जीवन को अवश्य सफल बनाओगे ! अनंतकाल पुराने कर्मों के बंधन तोड़ने का यही एक मात्र श्रेष्ठ उपाय है। तुम्हें शीघ्र अपने संकल्प को साकार करना चाहिए।'

पिताजी ने श्री भद्राचार्य के चरणों में चारित्र-धर्म का स्वीकार करके जीवन को धन्य बनाया। सारे राज्य में जिनेश्वर परमात्मा के भक्ति महोत्सव का भव्य आयोजन हुआ।

कुछ महीनों में कुछ दिनों में कितनी घटनाएँ आकार ले चुकी थी, जिसकी कल्पना भी मैं नहीं कर पाता था। ऋषि के साथ शादी.... उस पर घिनौना कलंक....रुक्मिणी के साथ शादी करने के लिये मेरा आना ऋषि का वापस मिलना, मेरा राज्यारोहण....पिताजी का संयम-मार्ग पर प्रयाण....यह सब अजीब सा था....सब अचानक....बन गया हो वैसा मालुम हो रहा था।

मंत्रीमण्डल के सहयोग से मैंने राज्यतन्त्र को व्यवस्थितरूप से सम्हाल लिया था। महाजन और प्रजाजन का मेरे प्रति अपार स्नेह और सद्भाव था। मैंने भी प्रजा के सुख-दुःख में हिस्सा लेने का और उनकी तकलीफों को दूर करने का अभियान बनाये रखा था।

ऋषिदत्ता और रुक्मिणी के साथ मेरी संसारयात्रा सुचारु ढंग से चल रही थी। जब तक मां जीवंत थी तब तक मैं, ऋषि और रुक्मिणी पूरी तरह उनकी सेवा में रत थे। उनकी हर खुशी का ख्याल करना हमारा फर्ज था। वैसे तो पिताजी के संयममार्ग पर चले जाने के बाद मां भीतर से काफी टूट चुकी थी। कुछ अनमनापन और एकाकीपन की कुंठा ने उनके चोतरफ घेराव सा कर रखा था। कुछ ही वर्ष बीते और मां ने अपनी अनंत यात्रा को आगे बढ़ा दिया। उसकी मौत ने मेरे भीतर ऐसी रिक्तता पैदा कर दी जो कभी पूरी नहीं हो सकती थी।

एक दिन ऋषिदत्ता ने सुबह-सुबह में मुझसे कहा : 'स्वामी, आज पिछली रात को मैंने एक अच्छा स्वप्न देखा! एक रथ देखा.... उस रथ में दो सुन्दर घोड़े जुड़े हुए थे।'

'बहुत अच्छा स्वप्न था। लगता है तू एक ऐसे पुत्र को जन्म देगी जो शेर सा पराक्रमी होगा। अपन उनका नाम 'सिंहरथ' रखेंगे।'

ऋषिदत्ता के प्राण पुलकित हो उठे। वो गर्भवती बनी। उसका रूप-लावण्य निखरता ही चला। उसके मन की सभी कामनाएं पूरी हों उसका मैंने ख्याल किया। इधर रुक्मिणी भी ऋषि का पूरा ध्यान रखती थी।

समय बीता और ऋषिदत्ता ने एक सुन्दर, सुडौल पुत्र को जन्म दिया। समग्र राज्य में राजकुमार का जन्मोत्सव मनाया जाने लगा। राजमहल तो असंख्य फूलमालाओं और दीपकों से झिलमिलाने लगा। सारे रथमर्दन नगर को शृंगारित किया गया। वैसे भी प्रजाजन ऋषिदत्ता के प्रति अत्यन्त आदर रखते थे। अब तो मां बनी....लोगों को राजकुमार मिला....प्रजाजनों का हर्ष हिलकोरें लेने लगा।

पुत्र-जन्म के समाचार कावेरी पहुँचते ही महाराजा सुरसुन्दर और महारानी वासुला तुरन्त रथमर्दन नगर चले आये। चूंकि वे ऋषिदत्ता को अपनी बेटी ही मान रहे थे। आकर उन्होंने सभी रस्में अदा की, जो कि ऋषि के नैहर की तरफ से की जानी थी।

हमने राजकुमार का नाम 'सिंहरथ' रखा। हम सबने महाराजा सुरसुन्दर से कुछ दिन और ठहर जाने का आग्रह किया, वे रुक गये। राणी वासुला को सिंहरथ से इतना लगाव हो गया कि एक पल उसे वो अपने से अलग नहीं करती थी। रुक्मणी भी जैसे उसका खुद का ही बेटा हो इतना प्यार वो सिंहरथ को देती थी। सिंहरथ का जन्म

क्या हुआ हमारा पूरा राजमहल, आनन्द-उल्लास और खुशियों से चहक उठा।

समय तो बहती नदी के प्रवाह सा है। वो कब रुका है ? समय बीतता ही रहा। काफी द्वन्द्वों में से जिंदगी गुजरती रही। अनंत-अनंत काल की अविरत यात्रा का यह जीवन तो एक छोटा सा टुकड़ा मात्र था! सिंहरथ का बचपन बीत गया....तारुण्य की देहरी भी उसने लांघ ली....अब तो वो यौवन के आंगन में प्रवेश कर रहा है। अनेक कलाओं में उसने प्रवीणता पा ली थी।

एक दिन कावेरी से समाचार आये कि महारानी वासुला अस्वस्थ है और रुक्मिणी को याद कर रही है। मैंने तुरन्त राजकुमार सिंहरथ के साथ रुक्मिणी को कावेरी की ओर भेज दिया।

भोजन वगैरह से निवृत्त होकर सांझ के समय में महल के पश्चिमीय वातायन में बैठा था। क्षितिज पर संध्या के रंग-बिरंगे रूप अठखेलियां कर रहे थे। मेरी आंखें संध्या के उभरते यौवन पर स्थिर थी। न जाने कब से ऋषिदत्ता भी आकर समीप में बैठ गयी थी, वो बोल उठी : 'आहा....संध्या कितनी खिल रही है!'

मैंने ऋषि की ओर देखा सूचक निगाहों से! पर वो तो क्षितिज पर ही टकटकी बांधे बैठी थी। अचानक हवा का जोरदार झोंका आया...क्षितिज पर काले स्याह बादलों का साया उभरने लगा....!

'ऋषि, संध्या मुरझा गयी खिले-खिले रंग धुल गये, सारी रौनक मर गई!'

'हाँ, एक पल में ही सब कुछ डूब गया।'

'क्या, अपना जीवन भी ऐसा नहीं है? सब कुछ क्षणिक, सब कुछ अस्थिर और नाशवंत!'

'सही बात है आपकी, जवानी के रंग भी तो पल दो पल का खेल है जिन्दगी कितनी अस्थायी और उखड़ी-उखड़ी है...वैभव-सुख सभी कुछ जैसे बह जाने वाला है....।'

'बस, पापकर्मों के बादलों ने आ घेरा, फिर क्या रहता है? सब कुछ तहस-नहस...!'

ऋषि खामोश होती चली। मेरी आँखें दूर क्षितिज पर उतरते-उभरते अंधेरे को निहार रही थी। नगर के मार्गों पर दिये जल उठे थे। अंधकार को चीरता हुआ उन दियों का प्रकाश काफी सुहावना लग रहा था, पर न जाने क्यों आज मन बहुत गहराई से, स्वस्थता से और स्थिरता से बहुत कुछ सोच रहा था....।

'सच कहूं? तो मुझे भी कभी-कभी यह राजमहल, यह वैभव-विलास, यह रिश्ते-नाते....सब कुछ छोड़कर संयम की राह पर चलने की ललक पैदा हो उठती है....और फिर वापस मन इस माया-ममता में डूब जाता है!'

ऋषिदत्ता के स्वर में कुछ दर्द सा था। उसने मेरे सामने देखा! नभ में दिये झिलमिला रहे थे। मैंने ऋषि की आंखों में वैराग्य की परछाई देखी। उसके चेहरे पर अनासक्ति का प्रतिबिम्ब उभरता देखकर

'जैसी तेरे मन की स्थिति है वैसे ही मेरे मन की स्थिति है। उसमें भी जब संसार की दुःखद घटनाएँ देखने को मिलती है। सुनता हूं। समझता हूं, तब तो दिल में वैराग्य की तीव्रता छा जाती है। कभी-कभी तो रात को देर तक आत्मचिंतन में डूब जाता हूं। इसमें मां के जाने के बाद तो जिन्दगी ने जैसे एक अन्तहीन उदासी का लबादा ओढ़ रखा हो, वैसा महसूसता हूं। संसार सपना लगता है। आत्मा का वास्तविक रूप मन को भा जाता है। बिल्कुल साहजिकपन से भीतर ही भीतर चिंतन की धाराएँ छूटती रहती हैं।'

'नाथ, अपने आदर्श...अपने विचार...कितने एकरूप हैं? कितने मिलते-जुलते हैं? क्या अपन इस जन्म में ऐसा पुरुषार्थ नहीं कर सकते कि समूची संसार-यात्रा का ही अन्त हो जाय? सब कर्मों का नाश हो जाय...आत्मा सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो जाय!'

'क्यों नहीं हो सकता वैसा पुरुषार्थ? अपना यदि दृढ़ संकल्प है तो वैसी धर्मआराधना अशक्य नहीं है!'

देर रात तक हम दोनों जीवन के शाश्वत् मूल्यों की चर्चा करते रहे। हमारे भीतर किसी अगम्य आनन्द का झरना फूट गया था। सारा अस्तित्व आनन्द की वर्षा से तर-बतर हुआ जा रहा था। श्री नमस्कार महामन्त्री का स्मरण करते हुए हम निद्राधीन हो गये।

दूसरे दिन प्राभातिक कार्यों से निवृत्त होकर बैठा ही था कि उद्यान-पालक ने आकर नमन करके कहा :

'महाराजा, कुसुमाकर उद्यान में एक प्रभावसम्पन्न आचार्य

भगवंत पधारे हैं। उनके साथ उनका शिष्य-परिवार भी है। वे बहु-श्रुत ज्ञानी पुरुष हैं वैसा उनके दो शिष्यों से मैंने जाना है।'

मेरा आनन्द निरवधि बनता चला। मैंने वनपालक को सोने के गहने भेंट कर दिये। सारे नगर में घोषणा करवा दी कि 'कुसुमाकर उद्यान में महान ज्ञानी आचार्य भगवंत पधारे हैं, उनके दर्शन करने और उनका उपदेश सुनने के लिए सभी उद्यान में जायें।'

मैं और ऋषिदत्ता हमारे परिवार के साथ उद्यान में पहुंचे। आचार्य भगवंत के दर्शन करके शरीर में रोमांच हो आया। हृदय गद्गद् हो गया। हम विनम्रपूर्वक उनका उपदेश सुनने के लिये बैठ गये।

आचार्यदेव ने हृदयस्पर्शी उपदेश दिया। उनके उपदेश का एक-एक शब्द हमारे राग-द्वेष के जहर को खत्म कर रहा था। हमारे मन प्रफुल्लित हो उठे। आत्मभाव निर्मल हो गया। उपदेश पूरा होने के बाद, ऋषिदत्ता ने हाथ जोड़कर प्रश्न किया।

'हे कृपावंत, मैंने गत जन्म में ऐसा कौन सा पापकर्म किया कि जिसके परिणामस्वरूप इस जीवन में मेरे पर 'राक्षसी' का कलंक आया? आप तो ज्ञानी महापुरुष हैं, भूतकाल और भविष्यकाल आपके ज्ञान में प्रत्यक्ष है। आप मेरी जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने की महती कृपा करेंगे?'

आचार्यश्री ने आँखें बन्द की। कुछ क्षण खामोशी के बीते। सभी लोग ऋषिदत्ता के सवाल का जवाब सुनने के लिये आतुर थे। आचार्यश्री ने आँखें खोली और ऋषिदत्ता को सम्बोधित करते हुए कहा :

'हे पुण्यशीले ! तू तेरे गत जन्म का वृत्तांत सुन।

इसी भारत में गंगापुर नाम का नगर है। उसमें गंगदत्त नाम का राजा था, उसकी रानी थी गंगा और उसकी पुत्री का नाम था गंगासेना।

गंगापुर नगर में चन्द्रयशा नामक साध्वीजी पधारे। गंगासेना साध्वीजी के परिचय में आयी। साध्वीजी के उपदेश से गंगासेना को संसार के वैषयिक सुख असार लगे। वो ज्यादा समय साध्वीजी के सान्निध्य में बिताने लगी।

उस नगर में संगा नामकी एक श्राविका थी। वो भी साध्वीजी के परिचय में आने से धर्म की आराधना में ओतप्रोत रहने लगी। उसने एक महीने के उपवास चालू किये। नगर में उसकी काफी प्रशंसा होने लगी। नगरवासी लोग उसके दर्शनार्थ आने लगे।

गंगासेना के मन में ईर्ष्या की जलन पैदा हुई। वो संगा की प्रशंसा नहीं सुन पाती थी। वो रात-दिन बस ईर्ष्या के मारे जल रही है! संगा की प्रशंसा होती बन्द करवाने के लिये वो उपाय खोजने लगी! गंगासेना विषयों के प्रति विरक्त अवश्य थी पर उसमें गुणानुराग नहीं था....प्रमोद भाव नहीं था। संगा की तपश्चर्या की प्रशंसा करना तो दूर की बात, बल्कि उसकी प्रशंसा न हो वैसा सोचने लगी!

गंगा सेना के मन में एक भयंकर विचार आया। उसने नगर की स्त्रियों के समक्ष बात छेड़ दी 'यह संगा तो राक्षसी है.... रात को तो वह मांस खाती है और दिन में तप करने का ढोंग रचाती है। आज

धीमें-धीमें सारे नगर में फैलने लगी। संगा के कान पर भी बात आयी, पर वह मौन रही। संगा के पास ज्ञान दृष्टि थी, उसने जरा भी प्रतिकार नहीं किया। बिल्कुल गुस्सा नहीं किया। अपने ही पापकर्म के उदय का दोष देखा। पूरी समता और समाधि के साथ उसने उपवास पूरे किये।

समय बीतता गया। गंगासेना ने कभी अपनी गल्ती को स्वीकार नहीं किया। न उसने कभी संगा से क्षमा मांगी। उसका आयुष्य पूरा हुआ और वो मर गई। मृत्यु के बाद वो इस संसार की अनेक दुर्गतियों में भटकी।

वापस वो उसी गंगापुर में राजा के यहां पुत्री के रूप में पैदा हुई। यौवन में आई साध्वीजी के परिचय से संसार के प्रति वैरागी बनी और चारित्र धर्म को स्वीकार करके साध्वी बनी। पर साध्वी जीवन में भी वो कषायों पर विजय न पा सकी। क्रोध-कषाय के अभिभूति बनी रही। अन्तिम क्षणों में भी वो आत्मनिरीक्षण न कर पायी। न तो कषायों की आलोचना की न ही उनका प्रायश्चित्त लिया। मरकर वो दूसरे देवलोक में इशानेन्द्र की रानी हुई। देवलोक का आयुष्य पूरा करके वो हरिषेण राजर्षि की रानी प्रीतिमति की पुत्री के रूप में जन्मी और वही तू ऋषिदत्ता!

हे भद्रे! तेरे पर क्यों राक्षसी का कलंक आया, वो तू अब समझ गयी होगी!' ऋषिदत्ता अपने गत जन्म की कहानी सुनकर स्तब्ध हो गयी! उसे भी तत्काल जातिस्मरण ज्ञान की उपलब्धि हुई। जिससे उसने स्वयं अपने गत जन्म की प्रतीति की। जिस प्रकार आचार्य श्री ने बतलाये उसी ढंग के उसने अपना गत जीवन देखा!

उसका मन सांसारिक सुखोपभोग से कतराने लगा। मेरा मन भी अधिक वैरागी बन रहा था।

आचार्यदेव को पुनः वन्दना करके हम राजमहल में लौटे।

भोजन वगैरह से निवृत्त होकर, मैंने ऋषिदत्ता से कहा : 'देवी, मैं चाहता हूं कि कावेरी से रुक्मिणी और राजकुमार को वापस बुलवा ले, सिंहरथ का राज्याभिषेक करके अपन चारित्र के मार्ग पर चलें।'

ऋषिदत्ता ने मेरी बात का अनुमोदन किया। मैंने शीघ्र दूत को भेजकर कावेरी जाने का आदेश दिया। दूत मेरा संदेश लेकर अश्वारूढ़ होकर कावेरी की ओर चल दिया।

दूसरे दिन महामंत्री को बुलाकर मेरी भावना से उनको अवगत किया। वयोवृद्ध महामंत्री की आंखें गीली हो गयी। कुछ देर वे खामोश रहे। मैंने कहा :

'महामंत्री, आप तो सुज्ञ हो, संसार के स्वरूप को भली भांति जानते हो, जिन्दगी के कई रंग आपकी अनुभवी आंखों ने देखे हैं परखे हैं। पिछले कई दिनों से मेरे मन में एक संघर्ष सा चल रहा था। आखिर कल पूज्य आचार्यदेव के श्रीमुख से ऋषिदत्ता के पूर्वभव की बात सुनी और वैराग्य भावना एकदम दृढ़ हो गयी। ऋषिदत्ता को मैंने मेरा निर्णय कहा तो वो भी स्वयं मेरे साथ ही संयम लेने का निश्चय कर बैठी है।

आप सिंहरथ को संभालना। उसमें योग्यता है, वो गुणी है फिर भी जवानी का जोश है, कभी कोई गलती हो भी जाय, आप उसे

सुधार लेना। प्रजा के हितों के प्रति वो जाग्रत रहे उस ढंग का मार्ग दर्शन उसे समय समय पर देते रहिएगा।'

'महाराजा, मैंने आपको, जब आप बच्चे थे तब से देखा है। आपको समझा है। आज आप समग्र राजवैभव छोड़कर ..अपार सुख सुविधाओं का त्याग करके चारित्र-जीवन स्वीकारने की तैय्यारी कर रहे हैं, यह आपका महान् पुरुषार्थ होगा। मानव जीवन की सही दिशा ही यही है। आपका निर्णय सही है। अत्युत्तम हैं, फिर भी दिल में आपके लिये जो बरसों का प्यार है उससे मुझे दुःख भी हो रहा है। वैसे तो अब मेरे को भी कितना जीना है? दो-चार साल और निकल जायेंगे इस दुनिया में। मैं स्वयं संयम न ले पाया इसका मुझे काफी अफसोस है, पर अब तो वह रास्ता मेरे लिये दुष्कर है....।'

सिंहरथ के राज्याभिषेक से सम्बन्धित कुछ बातें की और महामंत्री ने बिदा ली। मेरी आंखें पूर्ण वफादार उन प्रौढ़ महामंत्री को जाते हुए देखती ही रही। राज्य और पूरे राज्यपरिवार को अपना मानकर उसके प्रति पूरी निष्ठा और लगन से जीवन पर्यन्त कार्य करने वाले उन महापुरुष को मैंने मन ही मन नमन किया।

मैं मेरे आवश्यक कार्यों में लग गया। मध्यान्ह का समय हुआ। ऋषिदत्ता ने आकर भोजन करने को कहा। मैं भोजन करने के लिये भोजनालय में गया। भोजन करते-करते ऋषिदत्ता ने मुझसे कहा :

'जब रुक्मिणी अपने निर्णय को जानेगी तो उसे कितनी चोट लगेगी? और फिर उसका दिल कोई वैरागी नहीं है, वो तो संसार सुख की इच्छा वाली है, आपने उसके बारे में सोचा?'

ऋषिदत्ता की बात सुनकर मैं विचार में डूब गया। उसने बात आगे चलायी :

'सिंहरथ भी आप पर कितना प्यार रखता है ? वो क्या आपको इजाजत देगा ? आप विरक्त बने हो पर वो तो अनुरक्त है ना ?'

'तेरी बात सही है। जीवात्मा को अपनी रागदशा ही दुःखी करती है, उन्हें अपन दोनों के प्रति स्नेह है इसलिये उन्हें दुःख होगा ही ....उन्हें चोट भी लगेगी। मैं उन दोनों को समझाने का यथाशक्य प्रयत्न करूंगा ही।'

कुछ दिन बीते और कावेरी से रुक्मिणी और सिंहरथ वापस आ गये। अचानक बुलाने से उसके मन में किसी दुर्घटना की आशंका हो, यह स्वाभाविक था। पर ऊपर-ऊपर से उन्हें ऐसा कुछ लगा नहीं। स्नान, भोजन वगैरह से निवृत्त होकर जब सिंहरथ मेरे पास आकर बैठा तब मैंने अत्यन्त वत्सलता से उसको कहा :

'सिंहरथ, अब कुछ ही दिनों में तेरा राज्याभिषेक करने का है, इसलिये ही तुझे जल्दी वापस बुलवाया।'

'पर इतनी जल्दबाजी क्यों है, पिताजी ?

'जिन्दगी का क्या भरोसा बेटे ! मुझे लगता है अब मुझे आत्म-कल्याण का पुरुषार्थ कर लेना चाहिए।'

'पर पिताजी, अभी आप कहां वृद्धावस्था में पहुंच गये है !'

'वत्स, मौत अवस्था से बंधती नहीं है, वो किसी भी अवस्था में आ सकती है। जब भी भीतर में आत्मकल्याण कर लेने की इच्छा जगे तब ही आत्मकल्याण कर लेना चाहिए और फिर अब तो तू सभी कलाओं

में निपुण हो चुका है। राज्यसंचालन करने की योग्यता भी तुझ में आ चुकी है। इसलिये तुझे राज्य सौंपकर मैं और तेरी मां दोनों ने चारित्र के रास्ते पर चलने का निर्णय किया है।'

सिंहरथ के चेहरे पर उदासी छा गयी। वो कुछ बोल नहीं पाया, उसकी आंखें गीली हो गयी थी....मैंने उसके सर पर हाथ रखते हुए उसे काफी आश्वासन दिया। वो मेरे पास से खड़ा हुआ....मुझे प्रणाम करके अपनी माँ के पास चला गया।

उसके जाने के बाद रुक्मिणी ने खंड में प्रवेश किया। एक महारानी के योग्य गौरव उसके चेहरे पर झलक रहा था। उसके व्यक्तित्व में से अनेक आकांक्षाएं टपक रही थी। वो आकर मेरे चरणों में बैठ गयी। मेरी कुशलता पूछकर वो प्रश्नभरी निगाहों से मुझे ताकने लगी।

'रुक्मिणी, कुछ ही दिनों में सिंहरथ का राज्याभिषेक करना है।'

'यकायक निर्णय लिया ?'

'हाँ... कुछ दिन पूर्व यहां पधारे हुए एक ज्ञानी महापुरुष आचार्य देव के श्रीमुख से ऋषिदत्ता के पूर्वजन्म की कहानी सुनकर, इस संसार की भयानकता का एहसास हुआ। वैषयिक सुखों का राग उतरने लगा। हृदय में अनासक्ति तीव्र बनने लगी। जैसी मेरी मनोदशा थी वैसी ही दशा ऋषिदत्ता की थी। हम दोनों ने संसार त्याग करने का निर्णय किया....और तुरन्त तुम्हें बुलाने के लिये दूत को कावेरी भेजा।'

रुक्मिणी एकाग्रता और गंभीरता से मेरी बात सुन रही थी। मैंने जहां अपनी बात पूरी की, वो बोली :

'स्वामिन्, क्या आप दोनों चारित्र की राह पर जायेंगे ? मेरे मन में ऐसा वैराग्यभाव पैदा ही नहीं हो रहा है....मैं क्या करूंगी ?'

'रुक्मिणी तू मनहूस मत बन,....तुझे सिहरथ को संभालना होगा....सिहरथ अभी छोटा है, उसका ख्याल तुझे ही करना होगा। हां तू चाहे संयम का मार्ग न स्वीकार सके तो कुछ नहीं....गृहस्थ जीवन में रहकर भी धर्ममय जीवन जीना यह जिन्दगी धर्मपुरुषार्थ के लिये ही है।'

रुक्मिणी रो पड़ी। मैंने उसे प्यार से समझाने का प्रयत्न किया, पर उसके दिल का समाधान होता हो वैसा मुझे नहीं लगा। इतने में सिहरथ को लेकर ऋषिदत्ता ने खंड में प्रवेश किया। सिहरथ के चेहरे पर गहरी उदासी...ग्लानि और अस्वस्थता की छाया थी।

ऋषिदत्ता ने रुक्मिणी और सिहरथ को बड़े प्यार से समझाते हुए ऐसी हृदयस्पर्शी बातें की कि दोनों का विषाद कुछ हल्का हुआ। राग और मोह का प्रभाव कुछ कम हुआ। बोझिल वातावरण में कुछ हल्कापन आया।

दूसरे दिन सुबह ऋषिदत्ता ने मुझसे कहा : 'पूरी रात रुक्मिणी ने रोने-रोने में ही बीता दी। मैंने उसको समझाने का काफी प्रयत्न किया पर वो तो बस सिसकियां ही भरती रही।'

'तू उनके मन को समझाने का प्रयत्न करना,....दो-चार दिन में उसका मन स्वस्थ हो जायेगा।'

सिहरथ के राज्याभिषेक का दिन आ गया। समग्र राज्य में महोत्सव का आयोजन हुआ। शालीनतापूर्वक सिहरथ का राज्याभिषेक किया गया। राज्याभिषेक के समय ही मैंने मेरे संसारत्याग की घोषणा कर दी।

नगर के बाह्य उद्यान में आचार्यश्री महाचार्यजी रुके हुए ही थे। उनकी ज्ञानदृष्टि भूतकाल के भावों को भी देख रही थी। हम दूसरे दिन

आचार्य भगवंत के चरणों में गये। विनयपूर्वक मस्तक पर अंजलि रचते हुए कहा : 'गुरुदेव, हमें चारित्रधर्म का ज्ञान प्रदान करके इस संसार-सागर से तारने की कृपा करें।'

'महानुभाव, तुम्हारी भावना श्रेष्ठ है। चारित्रधर्म की आराधना करके मानवजीवन को सफल कर लेना है. अनादिकालीन संसार-परिभ्रमण का अंत लाने का है।'

नगर के जिनमंदिरों में प्रभु-भक्ति के महोत्सव रचाये गये। मित्र राज्यों के अनेक राजा और राजकुमार अरिमर्दन नगर में आ पहुंचे। कावेरी से महाराजा सुरसुन्दर भी सपरिवार आ पहुँचे।

शुभ दिन और शुभ मुहूर्त में पूज्य आचार्यदेव ने मुझे और ऋषिदत्ता को चारित्रधर्म देने की कृपा की। हमारा आनंद निरवधि बन गया।

पूज्य गुरुदेव के साथ हमने अरिमर्दन नगर से विहार किया। हमारी संयमयात्रा का प्रारम्भ हो चुका था। पूज्य गुरुदेव श्री का प्रतिपल विनय करके मैंने श्रुतज्ञान प्राप्त करना प्रारम्भ किया। ऋषिदत्ता साध्वी संघ में रहती हुई संयमसाधना करने लगी।

ज्ञान और ध्यान के साथ-साथ हमने तीव्र तपश्चर्या भी करनी चालू की। धर्मध्यान में एकलीन बनने लगे। हमारा लक्ष्य एक ही था-कर्मक्षय का। सभी कर्मों का नाश करके आत्मा का शुद्ध स्वरूप पाने की ही हमारी धारणा थी।

संयम-जीवन के बरस बीतने लगे। हमारी आत्म विशुद्धि निरंतर बढ़ती चली...एक दिन मैं जंगल में एक पत्थर की शिला पर बैठकर धर्मध्यान में लीन था....वहीं....वीर्योल्लास बढ़ता चला, धर्मध्यान में से शुक्लध्यान में प्रवेश हो गया....घाती कर्मों का नाश हो गया। मुझे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी....साध्वी ऋषिदत्ता को भी पूर्णज्ञान प्राप्त हुआ।